१. मधुर मुसकान

लेखक की अन्य रचनाएँ

केसर के फूल (कहानी-संग्रह) प्रस्तावना—श्री जवाहरलाल नेहरू	२.००
चिनार के पत्ते (सचित्र कश्मीरी लोक-कथाएँ)	१.५०
सूखे पत्ते (कहानी-संग्रह)	१.७५
महान आत्मा (निबन्ध-संग्रह)	१.५०

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य	:	पाँच रुपये
प्रथम संस्करण	:	जून, १९५८
चित्रकार	:	ना० मा० इंगोले
मुद्रक	:	यूनीक प्रेस, दिल्ली-६

"कश्मीर की घाटियों, झीलों और झरनों की मनोहरता उस मनभावन रमणी के सौन्दर्य की तरह है जो कल्पना से भी परे है । इस मनोज्ञता का एक और पहलू भी है । वह है उसके ऊँचे शैलों, बड़े शिला-खण्डों, हिमाच्छादित पर्वत-शिखरों, ठण्डे पानी के चश्मों और ज़ोर-शोर से बहते झरनों की मनोरम दृश्यमाला । इस सौन्दर्य के सैकड़ो आनन है जो सदा बदलते रहते है—कभी मुस्कराते और कभी मलिन दिखाई पड़ते है...... जब मै चीन गया तो चीनी लोगों की कला और घरेलू दस्तकारी के नमूने देखकर हैरान हुआ था ... कश्मीर पहुँचकर मुझे विदित हुआ कि कश्मीरी कारीगर ही चीनियों का मुकाबला कर सकते है ..... कश्मीर के शाल-दुशाले सुप्रसिद्ध है, लेकिन ऐसा होते हुए भी इनकी ख्याति कम होती गई, और इनका स्थान पश्चिमी देशों के कारखानों में बने सस्ते कपड़ों ने ले लिया* ।"

—जवाहरलाल नेहरू

---

* लेखक के कहानी-संग्रह, 'केसर के फूल' की प्रस्तावना से ।

पूज्य पिता जी

की

स्मृति में
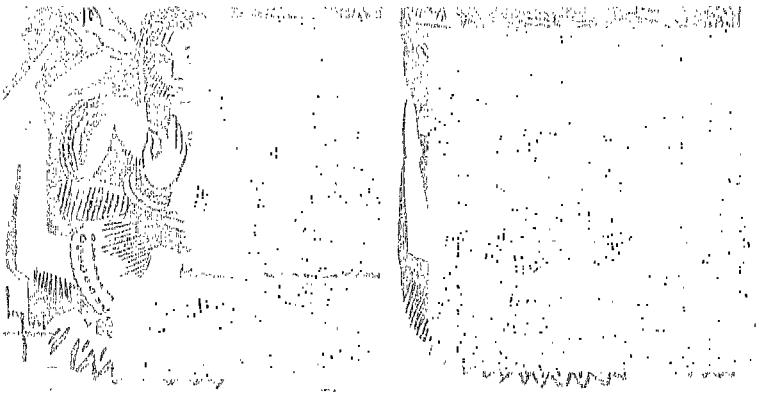
अपनी बात

मेरी कश्मीर-सम्बन्धी पुस्तकों का पाठकों द्वारा जो स्वागत हुआ, उसी से प्रोत्साहित होकर मैंने प्रस्तुत पुस्तक को लिखा है। कश्मीर के इतिहास एवं साहित्य, उसकी संस्कृति, कला की परम्परा आदि का सविस्तार विवरण देने के लिए भागीरथ प्रयत्न की आवश्यकता है। मैंने कश्मीरी लोगों के जीवन, उनकी काव्यमयी प्रतिभा, उनके आंसूओं में डूबे अतीतकाल, उनकी आकांक्षाओं और आशाओं की ही झलकियाँ दी है।

पुस्तक के दो भाग है। दूसरे भाग में मैंने पाठकों को कश्मीर के सुप्रसिद्ध पर्वतीय और अन्य दर्शनीय स्थानों आदि का परिचय कराया है। जिनके मन में सुरम्य घाटी की सैर करने की अभिलाषा है, इससे सहायता मिलेगी। प्रकाशक महोदय के अनुरोध पर मैंने पुस्तक के अन्त में दिए परिशिष्ट तैयार किए है। उनका भी अपना महत्त्व है।

इतिहास के अध्ययन में मुझे विशेष अभिरुचि नहीं है। कल्हण-सम्बन्धी लेख के लिए सामग्री विमला ने तैयार की। इसमें जो सन् दिए गए हैं, भारत सरकार के पुरातत्व विभाग द्वारा बनाई सूची पर आधारित हैं। सर्वश्री मोहनलाल ऐमा, पृथ्वीनाथ बामजई, जगदीशचन्द्र भारती और सोमनाथ दर ने जो सहायता की उसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

यह पुस्तक यदि कश्मीर से बाहर रहने वाले पाठकों और सैलानियों को कश्मीर के महत्त्वपूर्ण विषयों का बोध करा सके, तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूँगा।

हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड
नई दिल्ली

—मोहनकृष्ण दर

क्रम

पहला भाग

दूसरा भाग

पहला भाग

सोवियत रूस
यारकन्द
खोतन
चीनी सिंक्यांग (चीन)
अफ़गानिस्तान
गिलगित
अस्टोर
सिन्धु नदी
स्कर्दू
लेह
वुलर
कुरीगले
श्रीनगर
पहलगांव
बारमुला
पुंछ
अनन्तनाग
मरी
पिंडी
बानिहाल
रामबन
तवी
ऊधमपुर
चिनाव
चंबा (हि० प्र०)
जम्मू
पाकिस्तान
झेलम नदी
चिनाव नदी
लखनपुर
पठानकोट
गुरदासपुर
अमृतसर
जालंधर
लाहोर
लुधियाना
पूर्वी पंजाब
तिब्बत
एक इंच = सौ मील

कश्मीर की स्थिति

१

वसन्त प्रभात के दूर्वादल पर ओस की बूँदें दिनमणि की किरणों के संग मुस्करा रही हों। ऋतुराज के आगमन पर हर्षित होकर रंग-बिरंगे कुसुमों की झालरें और पल्लवान्वित लताएँ सुख शीतल पवन से विकम्पित होकर झूल रही हों। और पास में बहती झेलम नदी का मादक नृत्य, चिनार की ऊँची शाखाओं में से बहती मलवारी पवन की मधुर साँय-साँय, और पक्षियों का कलरव आदि कानों में अस्फुट संगीत भर रहे हों—तो जहाँगीर की याद आती है। वह कश्मीर के मोह को जन्म-पर्यन्त भुला न सका।

'स्वर्ग यही है' कहते हुए जहाँगीर ने इस सुरम्य घाटी में आखिरी साँसें ली थीं, और उसके पास में बैठी सौन्दर्य की प्रतिमा-सी नूरजहाँ ने टप्-टप् आँसू गिराए

थे । वितस्ता (झेलम) उसकी चिरऋणी रहेगी, जिसने उसके स्रोत वेरीनाग के महत्त्व को पहचाना और वहाँ अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाए । लेकिन जब उसके प्रिय के प्राणों की ज्योति रह-रह कर टिमटिमा रही थी, तब भी यह झूमती हुई बहती ही चली गई । तनिक सोचने से ऐसा लगता है कि इसमें मादकता है, अनुराग नहीं । इसके प्रशस्थ वक्षःस्थल में अक्षुण्ण हृदय छुपा हुआ है, जिसे किसी का मोह नहीं लगता, किसी का प्यार नहीं होता । और न उसे कोई बन्दी ही बना सकता है । राजवंशों का पतन हुआ, संस्कृति का ह्रास तथा उदय हुआ, क्रान्तियाँ हुईं, लेकिन वितस्ता समय की चित्रपटी पर लिखित मानवता के प्रसार की कहानी अपने अन्तरतम् में समेट कर, बल खाती हुई, निश्चिन्त बहती गई । और ऐसे कश्मीर का प्राचीन इतिहास लुप्त हो गया ।

उस समय का चित्र कल्पना की आँखों से देखने में बड़ा आनन्द आता है । कौन कह सकता है कि किस महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कश्मीर घाटी ने इतनी बरबादी सही । उसकी कहानी बहुत पुरानी है । उसका जितना हिस्सा जाना जा सका है, उसकी अपेक्षा जितना नहीं जाना जा सका वह और भी पुराना और महत्त्वपूर्ण है । यह नहीं मालूम किस अज्ञात काल से नाना जातियाँ इस सुरम्य भू-स्थल पर बसती आई हैं, इसकी साधना को नया रूप देती रही हैं और इसकी समृद्धि करती रही हैं । न जाने कितनी सभ्यताओं के बीच यहाँ संघर्ष हुआ । मध्य और पश्चिम एशियाई देशों तथा पश्चिम से आए आक्रमणकारी, आर्य, यूनानी, कुशान, हून, पठान, ईरानी, अंग्रेज आदि ऊँचे पहाड़ी दर्रों को पारकर नयनाभिराम घाटी में लूट-मार, निर्माण तथा संहार दोनों ही करते आए । विजेता जो सामग्री पराजितों से बलात् नहीं ले जा सके, उसका विध्वंस किया । जिनके पाँव टिके वे कीर्ति के ऊँचे सिंहासन पर बिठाए गए । कितनी बरसातें इसने देखीं, कितने पतझड़; वसन्त कभी-कभी ही देखा । लालारुख और हब्बाखातून को सिसकियाँ लेते, और प्रेम-प्रलाप के गीत गाते हुए देखा । मार्तण्ड और अवन्तिपुर का दाहन भी देखा । सिकन्दर बुतशिकन और पठानों के राज्यकाल में हिन्दुओं और मुसलमानों को अमानुषी अत्याचार सहते और अन्तिम साँसें लेते भी देखा ।

परन्तु यदि निर्माण और विध्वंस का यह क्रम सामाजिक विकास के लिए अनिवार्य माना जाय, तो जैनुलाबदीन और ललितादित्य की रचनात्मक प्रवृत्ति को ध्यान में रखने से आधुनिक निर्माताओं की कमजोरी का साफ पता चलता है । यदि मध्यकालीन दूषित वातावरण में भी कोई शासक देश में खुशहाली ला सकता था और शिल्प-कला की अनुपम कृतियों का सृजन कर सकता था, तो यह बात समझ में नहीं आती कि क्यों आधुनिक गतिशील युग में शिल्पकार पुनर्निर्माण के कार्य को ठीक पूरा नहीं कर सकते । शायद प्रश्न उठेगा सभ्यता की श्रेष्ठता का जो सुकुमार

संस्कृति को जन्म देती है। इस चलती चक्की में सब चीजें नष्ट हो जाती हैं—सम्राटों की महानता, और उनकी रानियों की रमणीयता—किन्तु रचनात्मक कार्यों का महत्व फिर भी अमर हो जाता है। श्रेष्ठ ग्रन्थ, विशाल मन्दिर, हस्त-कौशल और अन्य कलाओं का कोष, जिसकी वृद्धि के लिए कश्मीरियों ने खून पसीना एक किया, अभी तक परिपूर्ण है।

कश्मीर की कहानी सुनने से बात साफ हो जाती है कि सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के समय में लोग उपेक्षित नहीं रहे, बल्कि उनमें से बहुतों ने परिस्थिति के अनुसार कार्य सम्पादन किया। अचम्भे की बात है कि वह लोग शासकों की श्रेणी से नहीं आए, किन्तु मामूली लोग, शिल्पकार और कलाकार थे जिन्होंने साहित्यिक तथा कलात्मक परम्परा को नाश होने से बचाया, और महान् संस्कृति के उत्तरदायी बने। सदियों की सामाजिक तथा राजनैतिक उथल-पुथल को भूलकर वह कार्य सम्पन्न रहे। युद्ध और विग्रह केवल सभ्यता की जय-यात्रा में क्षणिक विक्षोभ ला सके, किन्तु उसे रोक न सके।

मुसलमानों के शासनकाल अर्थात चौदहवीं शताब्दी से पहले नाना विश्वासों और आचार-विचार के भेद के कारण विभिन्न धर्म मत प्रचलित थे, उनमें हिन्दू धर्म, बौद्धमत तथा शैवमत का ही नाम लूँगा। परन्तु जीवन के प्रति हिन्दू और मुसलमानों की दृष्टि में एक विशेष प्रकार की एकरूपता थी और अब भी है, इसी कारण वह भाईचारे के सूत्र में बँधे चले आ रहे हैं। दिलचस्प बात यह है कि कश्मीर में नाना प्रकार के मतों के अनुयायी बाहर से आकर नहीं बसे। हाँ, दो-एक प्रचारक बाहर से आए, अनेक मत राज्य धर्म बने लेकिन अनुयायी और प्रचारक कश्मीरी लोग ही हुए। चौदहवीं शताब्दी में जब इस्लाम का आगमन हुआ, तो हिन्दुओं का मत-परिवर्तन कर ही उन्हें मुसलमान बनाया गया। इस प्रकार हिन्दुओं और मुसलमानों का रहन-सहन, वेश-भूषा, आचार-विचार करीब एक ही प्रकार का रहा। कहीं-कहीं दोनों एक ही स्थान पर ईश्वराराधना में लीन हो जाते थे, दोनों इकट्ठे ही उत्सव मनाते और एक दूसरे के हाथ से खाते थे। कश्मीरियों के दृष्टिकोण में एकरूपता कई सदियों से चली आ रही है।

कश्मीर ने भारतवर्ष को अपनी धर्म-साधना की उत्तम वस्तुएं दीं। उसने मैत्री का सन्देश दिया है, भारतीय संस्कृति को पूर्ण बनाने की साधना की है। दुनियावी स्वार्थों को छोड़ विशाल अध्यात्मिक अनुभूतियों का उपदेश दिया है। यहाँ की निर्माण-कला और मन्दिर-शिल्प, दर्शन-शास्त्र, चिकित्सा और ज्योतिष, साहित्य आदि भारतवर्ष में फैले हैं, और सम्मानित हुए हैं। कश्मीर शैव साहित्य ने अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी साहित्य पर प्रभाव डाला है। हालांकि कई विद्वान इसका परिचय साधारण जनता को कराकर इसे प्रकाश में लाये हैं, फिर भी इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। भारतवर्ष में एकमात्र प्राप्त संस्कृत इतिहास कवि

कल्हण ने लिखा है। साहित्यिक परम्परा की चर्चा दूसरे स्थान पर करूँगा। भोजपत्र पर लिखने की प्रथा कश्मीर में ही चली। भूर्ज वृक्ष, जो १४,००० फीट की ऊँचाई पर बहुतायत से मिलते हैं, की छाल कागज की तरह लिखने के काम आती है। अधिकतर भोज-पत्र की पुस्तकें कश्मीर में ही मिलती हैं, क्योंकि इस पर लिखने का प्रचार वहाँ ज्यादा था।

नाग जाति के विषय में जो वाद-विवाद चल पड़ा है उसका हल कश्मीर में ही मिलता है। यह बात तो स्पष्ट है कि 'नाग' सर्प नहीं थे बल्कि मनुष्य थे और कश्मीर की जनसंख्या में उनका बाहुल्य था। जब बौद्ध धर्म का कश्मीर में प्रचार हुआ तो सर्वप्रथम नाग ही उनके अनुयायी हुए। उनमें नागार्जुन तथा नागबोधी आदि के नाम सुविख्यात हैं। महाभारत में नागतक्षक को नागों में श्रेष्ठ बताया गया है और उसका निवास-स्थान, तक्षशिला (टैकसिला) बताया है। टैकसिला और कश्मीर का पारस्परिक सांस्कृतिक सम्बन्ध दृढ़ था इसलिए नाग विद्वानों का आपस में मेल-जोल होता ही रहता था। गांधार का पाणिनी भी नाग जाति में जन्मा था। सिन्दूर को नाग-चूर्ण ही बताया गया है। स्पष्ट है कि आर्य-स्त्रियों ने इसे कश्मीर और लक्षशिला की नाग जाति की आचार-पद्धति से ग्रहण किया था, परन्तु आज वह हिन्दू स्त्री से सुहाग की निशानी बन गया है।

कश्मीर में प्रकृति के क्षण-प्रतिक्षण बदलते हुए दृश्यों से सभी प्रभावित हुए। कल-कल करती डल झील कनक तार की भाँति चमक उठती है, और रवि-रश्मियों के स्पर्श से जल-प्रपात से उठते असंख्य नीहारों में अनेक रंग रह-रहकर दमक उठते हैं। यहाँ पक्षियों का मधुर कलरव होता है, जल-प्रपातों और फव्वारों का कलनाद और नव-पल्लवों को लोरियाँ सुनाते हुए समीर की साँय-साँय। ऊँची पर्वतमाला, हरी वनस्थलियाँ, तेज बहते हुए पहाड़ी झरने, शान्त नदियाँ और प्रकृति के उपकरणों का न भूलने वाला दृश्य। केवल ४५ लाख कश्मीरियों की भूमि, किन्तु लगभग ८१,००० वर्ग मील पर फैली हुई और चार प्रान्तों में बटी हुई। दक्षिण में जम्मू प्रान्त, डोगरों का देश, बंजर और बहुत कम उपजाऊ, पंजाब से मिलता-जुलता है। उत्तर और उत्तर-पूर्व में बौद्ध-भूमि लद्दाख, १०,००० फीट से १५,००० फीट की ऊँचाई पर स्थिति, और उत्तर-पश्चिम में गिलगित पहाड़ी इलाका और बंजर। कश्मीर घाटी के ८४ मील लम्बे, ४५०० वर्ग मील के टुकड़े को ही 'भू-स्वर्ग' कहते हैं, जिसे देखने के लिए संसार के कोने-कोने से सैलानी आते रहते हैं। यातायात के साधन अच्छे हो जाने से पर्यटन करने वालों की संख्या में वृद्धि हुई है।

विदेशी लोगों ने विभिन्न भाषाओं में कश्मीर साहित्य की रचना की, एक समय था कि बाहर से आने वाला प्रत्येक व्यक्ति कश्मीर पर पुस्तक लिखना अपना धर्म ही समझने लगा। नाना प्रवृत्तियाँ रखने वाले थे वे लोग, विद्वान और बातूनी, चतुर और मूढ़। सभी ने कश्मीरी के चरित्र के विषय में अपने विचार प्रकट किए।

कई अपना मतलब साधना चाहते थे, औरों पर मौलिकता का दीवानापन सवार हो गया था। कई अनात्मसम्पर्ण थे और कोई बिरला ही मिला जिसने सैंकड़ों पृष्ठों पर कश्मीरी सायंकाल की मनोरमता या चिनार की सुन्दरता का बखान किया। लेकिन उनमें सर ओरल स्टीन और सर वाल्टर लारंस जैसे प्रख्यात विद्वान भी थे जिन्होंने कश्मीरियों की परिस्थिति को समझा और उनकी अपनी मुश्किलें सुलझाने में मदद की। स्टीन ने राजतरंगिनी का अंग्रेजी में अनुवाद किया, जो इस समय भी कल्हण की अमर कृति पर प्रमाणित टिप्पणी मानी जाती है। लारंस ने भूमि-सुधार के कानून बनाए और कश्मीरी किसान को सदियों से चले आते अत्याचारों से मुक्ति दिलाई। कश्मीरी लोग अभी उसे 'लारन साहब' के नाम से याद करते हैं। कश्मीरी के विषय में उसने लिखा—"कश्मीरी कौनसा हुनर नहीं जानता, खेती करता है, कपड़ा बुनता है, रस्सियाँ तैयार करता है, टोकरियाँ बनाता है, अपने लिए खड़ाऊँ बनाता है और स्वयं मकान बना सकता है। व्यापार के धंधे में भी काफी प्रवीण है, और कभी नुकसान नहीं उठाता।

"उसका घरेलू-जीवन सुखी है। अपनी स्त्री और बच्चों को प्यार करता है। तलाक या दुश्चरित्रता के किस्से आम तौर से सुनने में नहीं आते। कभी-कभी घर वाला अपनी पत्नी को फटकारता भी है और घरेलू अनुशासन को मजबूत करने की बात बढ़ा-चढ़ाकर करता है। लेकिन वास्तव में स्त्री ही घर में राज्य करती है। पुरुष उसके अनुशासन को भंग करने की हिम्मत नहीं करता। कश्मीरी स्त्री वास्तविक रूप से सहधर्मिनी है और अपने पति के साथ काम करती है। मैंने अक्सर विधवा स्त्रियों को खेतों में काम करते बिरहा गाते सुना है।"

असल में सैलानियों का ध्यान कश्मीर की ओर प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ही आकर्षित हुआ, और उनके आने से वहाँ की आर्थिक स्थिति पर भी काफी प्रभाव पड़ा। हजारों की संख्या में लोग आने लगे हैं—किसी को घुड़सवारी का शौक है तो कोई एकान्त-प्रेमी, किसी का दिल सरोवरों में डुबकी लेने को करता है, तो किसी को कलनाद करते पहाड़ी झरनों में स्नान करने का। कोई शिकार के प्रलोभन से ही आता है। अनेकों ऐसे भी हैं जिन्हें पक्षियों और पुष्पों से प्यार है। सारांश यह कि सभी अपनी किसी चाह को पूरा करने के लिए ही आते हैं। स्वस्थ और सन्तुष्ट होकर वे लौटते हैं, प्राकृतिक दृश्यों से स्फूर्ति का संचार कर और सुरभियुक्त पवन का आनन्द लेकर।

मुगल शासकों ने बाग बनाकर कश्मीर की सुन्दरता को चार चाँद लगाए। इन बागों की निर्माण कला ईरान से प्रभावित हुई। बाग की योजना की मुख्य चीजें, चश्मा या नहर, जिसका पानी छोटी नालियों द्वारा बाग के हर भाग में पहुँचाया जाता है, फव्वारों की नहुतायन और छोटे-छोटे कृत्रिम जल-प्रपात। मुगलों से पहले भी बाग बनाए गए थे। कल्हण ने मार्तण्ड के मन्दिर के पास अंगूर के उद्यान का

वर्णन किया है। प्रवरसेन द्वितीय ने डल झील के किनारे एक सुन्दर विश्राम-स्थान तथा बाग बनवाया था, जिसके ऊपर फिर शालामार बना। यद्यपि मुगल-कालीन बागों पर ईरानी प्रभाव साफ दीखता है, लेकिन वे कश्मीर की अपनी ही चीज हैं। हरे भरे बाग, कटाई किए हुए ईरानी बागों से भिन्न हैं, जिनमें लम्बी घास उगाने का ही प्रयत्न होता है ताकि दर्शकों को उनकी कृत्रिमता का पता न चले।

सैलानियों के आने से कश्मीरी हस्तकला भी प्रभावित हुई। कला की परम्परा को कश्मीरी लोगों के अतिरिक्त शायद ही किसी अन्य जनसमुदाय ने अविच्छिन्न रूप से सुरक्षित रखा है। सामन्तशाही के दौर में शान्ति-प्रिय, सुबोध कश्मीरी दबे तो अवश्य ही, परन्तु सदियों से वे विजेताओं को सभ्य बनाते आए हैं। सूक्ष्मग्राही गुण उनमें विशेष था, जिस कारण वे प्रकृति के उपकरणों से ही कलात्मक कृतियों के लिए प्रेरणा लेते रहे। पुष्पों और वनस्थलियों के नमूनों को शालों पर काढ़ा, चाँदी और लकड़ी के सामान पर अंकित किया, धरती के वक्षस्थल में अमूल्य पत्थरों की खोज की, और अपने जीवन-संघर्ष में ही हस्तकला का आविष्कार किया। इनके कारण ही संसार में 'कश्मीर' शब्द शिल्प-शैली और हस्तकौशल से पर्यायवाची हो गया। इसकी परम्परा आगे भी चलती रहेगी, चाहे संसार के सारे कौतुकालय, जहाँ इसके नमूने सुरक्षित हैं, नष्ट भी हो जायें।

यह बात निस्संकोच ही माननी पड़ेगी कि सामन्तशाही के कारण कश्मीरी लोगों की दरिद्रता बढ़ी और उनकी कलात्मक प्रवृति को ठेस पहुँची। कुछ समय के लिए यह सारा क्रियात्मक कार्य स्थगित कर दिया गया। मशीनों से बनी हुई चीजें हस्तकौशल के नमूनों में अशिष्टता लाईं, क्योंकि जीवन-संघर्ष में पूरा उतरने के लिए कारीगरों की परम्परा से परे हटकर नई माँगों को पूरा करने की चेष्टा करनी पड़ी, और अपनी कला का स्तर नीचा करना पड़ा। पर इस नये युग की मंजिल पर कश्मीर को नया ही मार्ग अपनाना है, अपनी संस्कृति तथा कला की परम्परा से उत्प्रेरित होकर अपने को नए पथ पर अग्रसर करना है। नई स्फूर्ति के चिन्ह कहीं कहीं दीखते हैं। कोंपलें निकल आईं, तो फूल अवश्य ही खिलेंगे।

कश्मीर हमें बुला रहा है। उसके आमन्त्रण का उपेक्षण नहीं किया जा सकता है। सुप्रसिद्ध कवियत्री हब्बा खातून की वाणी रह-रहकर याद दिलाती है—

दूर वनों में फूल खिले हैं,
तूने मेरी धड़कन न सुनी?
कमल मुस्काले झीलों में,
बागों में नरगिस खिल उठी,
तूने मेरी धड़कन न सुनी?
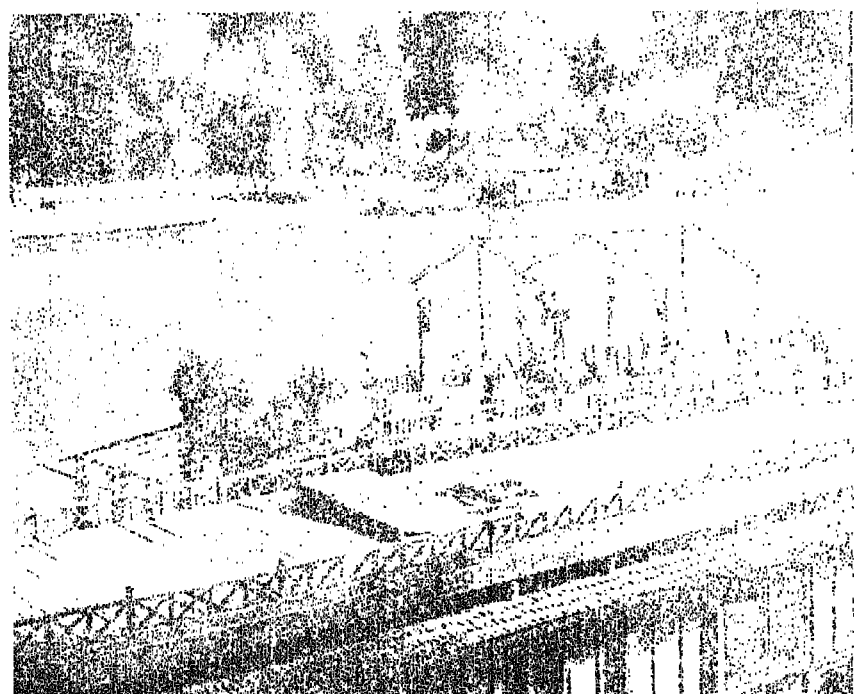
दोपहर का समय, और धूप ऐसे गायब हुई जैसे खरगोश के सिर से सींग। रवि का दर्शन क्षण मात्र के लिए ही था। उसके प्रकाश में अब उष्णता नहीं रही है, और न स्फूर्ति देने की शक्ति। कई दिनों से उत्तर से आती अति शीत पवन वनस्पतियों का संहार करती, प्रत्येक प्राणी का उत्साह भंग कर उसे जीर्ण बनाने की निष्फल चेष्टा कर रही है। पास ही चिनार की ऊँची शाखाओं में कुछ सूखी पत्तियाँ प्रकृति के इस नियमित अभिशासन का तिरस्कार कर विरोध कर रही हैं। लेकिन कितना इनका सामर्थ्य? जब लाल पीली पत्तियों का समुदाय वसुन्धरा के विस्तृत

अंचल में बिखर गया था और वह सुन्दर गोप-बालिका उन्हें उठाकर ले गई थी, और उनमें से कुछ उड़कर सर्पाकार झेलम नदी में गिरी थीं, उस समय यह कहाँ थी ? शिशिर काल आया है और वे सूखी बची पत्तियाँ गौरवान्वित तरु के ऊपर शोभा नहीं देतीं। जितनी हवा तेज हो जाती है उतना ही अधिक चिनार इनसे छुटकारा पाना चाहता है।

लेकिन यह मेरे उद्यान की बारामासी गुलाब-लता से अपनी तुलना करना चाहती हैं। मगर है भी अचम्भे की बात, पाला हो या बर्फ, रजाई और कांगरी आपके साथी हैं, यह तो फिर भी मुस्कराती रहती है। इसके फूलों में वास नहीं, फिर भी मेरी बेबसी पर इसका हँसना मुझे अच्छा लगता है। यह तो अमर है, अजर है, और भावुक इतनी कि अभी भी इसमें फूल खिले हैं। सारे कश्मीर में हल्ला हो गया कि हेमन्त ऋतु आ गई, कश्मीरी गर्म 'फिरन' पहन और उसमें कांगरी छुपाए शीत से काँपने लगे। मेरे हाथों में जैसे जान ही नहीं रही, लेकिन यह चुलबुली तो अठखेलियाँ कर रही है। कल इसमें दो फूल आ गए थे, एक बिमला केशों में बांधने के लिए ले गई, एक चिड़िया ने काट गिराया था; और आज सुबह फिर वही दो फूल ! देखने को मरियल-सी लगती है, मगर क्या मजाल कि इसे फूलों के बगैर देखें। इसी के साथ विदेशी गुलाब का एक पौदा लगाया था। वह काफी मोटा हो गया है लेकिन अब उसमें पत्ते भी नहीं हैं। अन्तिम फूल तो उसमें कार्तिक मास में लगे थे। दुर्भाग्य देखिए कि इतना स्वस्थ पौदा, फूल पत्तों के बगैर है। और वह चुलबुली बेल बर्फ के आवरण के लिए तैयारी कर रही है। उसमें इसका सौन्दर्य और भी निखर उठेगा।

लेकिन सभी लोग इसी को तो नहीं देख रहे हैं। पड़ोस के एक मिश्र को अपनी ही धुन सवार है—

अय कांगरी, अय कांगरी,
कुर्बान तु हूरो परी।

"ओ कांगरी तेरी वन्दना, तू स्वर्ग की अप्सरा है।"

न जाने आज पड़ोसिन कहाँ गई है। लेकिन मेरा विचार कुछ ठीक नहीं। अन्दर से उसी की तो आवाज आ रही है—

कमि सना कोंड़लिये न्यी म्येन कांगर,
क्या कर छुस चालान।
कथँ यिविहम, टपुय कड़हस,
क्या कर छुस चालान।

"कौन चुड़ेल मेरी कांगरी चुराकर ले गई। क्या करूँ सहती हूँ। वह मुझे मिल जाती तो उसके बाल नोच लेती, क्या करूँ सहती जाती हूँ।"

विलाप क्यों न करें, इतनी सर्दी में कांगरी के बगैर जीना कैसे हो। चाय भी कितनी गर्मी पहुँचाएगी, वह अस्थिभेदक शीत का विरोध कहाँ तक करेगी। हिमांक से कई दर्जे नीचे पारा चला गया। चारों ओर पाला ही पाला, और आकाश

पर काले बादल कई दिन से छाए हुए हैं। मेरे मित्र को चिन्ता हो रही है कि बर्फ कब गिरेगी। जलाने की लकड़ी होगी नहीं, कुछ तो मुझे भी मालूम है। लकड़ी का कोयला न होने से और भी मुश्किल। उपले जलाकर उनकी आग कांगरी में डाल लेते हैं लेकिन सर्दी क्या जान लेकर ही रहेगी? कार्तिक मास में द्वार खटखटाया था, जब गेंदे के आखिरी फूल लगे थे और बैशाख तक जाने का नाम नहीं लेगी। बर्फ की प्रतीक्षा इसलिए हो रही है कि हवा में नमी आ जायेगी। हर तरफ चर्चा हो रही है कि 'शीनछट' बर्फीली हवा चल पड़ी है, और दादी अम्माँ ने खिड़की से बाहर झाँककर यह निर्धारित किया कि बर्फ आ रही है, तब सारे मुहल्ले में बात फैल गई। क्या मजाल उसका कहना ठीक न निकले। सुबह जब झरोखे से सिर निकालकर देखा तो धरती बर्फ की ओढ़नी लिए बैठी थी। और प्यारी ऊषा पुकार रही थी, 'नवशीत मुबारक'— नये साल की बर्फ की मुबारक!

मुझे याद आता है कि सरकारी दफ्तर सर्दियों के लिए जम्मू चले जाने से पहले श्रीनगर में कितनी चहल-पहल थी। कर्मचारियों के साथ-साथ मौसम के अन्तिम सैलानी भी प्रस्थान कर गये, और रह गए यहाँ के लोग। बण्ड पर या अन्य बाजारों में जहाँ गर्मियों में सैलानियों के कारण ही काफी चहल-पहल रहती थी, अब वहाँ निस्तब्धता का राज्य है। है तो एक पहलू से अच्छा, लिखने-पढ़ने और गम्भीर विषयों पर अध्ययन करने के लिए समय तो चाहिए ही। जब तक खिड़की-द्वार बन्द कर कमरे में एक चित्त होकर न बैठें, पढ़ने का स्वाद ही क्या? बिक्री करने वाले और हाजी कुछ रुपया इकट्ठा कर पाये हैं, बैठकर उसी को खायेंगे। सारा साल सैंकड़ों सैलानियों के पीछे फिरते रहना खून पसीना एक करना भी ठीक नहीं है। वसन्त काल में सैलानी लौट आयेंगे, इसलिए यही समय है शिकारों की मरम्मत कराने और हाउस बोटों को सजाने का। 'समावार' की गर्म चाय पीने में क्या गर्मियों में इतना आनन्द आता है? इतने सैलानी आए कि यह लोग सगे-सम्बन्धियों से कट ही गए। सुबह से शाम तक निरन्तर काम करते ही गए। अभी तो समय है आपस में मिलने-जुलने का। कैसी बात होगी कि महीनों बाद भी उनके पास न पहुँच पायेंगे।
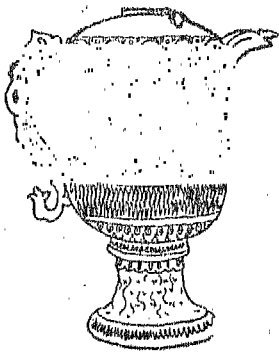
समावार

हेमन्त आया। सब को मालूम था कि रुके हुए काम सर्दियों में ही निकल आयेंगे। कई लोग तो आश्चर्य प्रकट करते हैं कि कश्मीरी इतनी सर्दी में क्योंकर जीवित रह सकते हैं, लेकिन उन्हें और भी अचम्भा होता है यह सुनकर कि इनमें किसी भी मौसम में प्रसन्न रहने की सामर्थ्य है, जैसी मेरे नटखट गुलाम-रसूल को। यही समय घर पर बैठकर, दस्तकारी की सुन्दर चीजें, शाल, लकड़ी का सामान, गब्बा, नमदा

आदि बनाने का है। काम भी होगा और लाभ भी। बर्फ धीरे-धीरे गिर रही है और पल्लवहीन वृक्ष भूत जैसे लग रहे हैं। मैं तो सरो के पेड़ की किसी से तुलना नहीं करूँगा। यही एक पेड़ है कि जिस पर वर्फ की छटा, सुन्दरी के मुख पर महीन घूंघट की तरह बहुत मनभावन लगती है। छोटे-छोटे पौधों की क्या बिसात, उनकी कमर बर्फ के भार से टेढ़ी हो गई है। आश्चर्य होता है कि दरिद्र कश्मीरियों के जर्जर मकान कैसे इस हिम तथा कक्कड़ के आक्रमण का सामना कर सकते हैं। पानी टप्-टप् अन्दर आने लगता है, इसलिए अपनी एकमात्र सम्पत्ति को बचाने के लिए स्वयं ही छत पर चढ़कर फावड़े से बर्फ नीचे सरका देते हैं। शीत पवन को रोकने के लिए खिड़कियाँ और द्वार सब बन्द पड़े हैं, जहाँ कहीं छिद्र दिखाई दिया झट उस पर गोंद से कागज चिपका दिया गया। अभी वे दिन दूर ही दीखते हैं जब हर कश्मीरी के घर परितापनी होगी, बिजली के हीटर होंगे, किन्तु इनके यह दिन ऐसे नहीं रहेंगे।

रात को बर्फ गिरी और सुबह तक कक्कड़ के लग जाने के कारण बिलौर का-सा रूप धारण किया। जमीन पर पाँव रखते ही फिसल जाय, और राह चलने वाले ठहाका मारकर हँस बैठें। गिरने वाला कपड़े समेट कर मौसम को कोसता हुआ फिर घर लौट आए। और अगर कांगरी के समेत कहीं मूक-नाटक कर बैठा, तो कहीं न कहीं आग अपना धब्बा डालकर ही रहेगी। धनी-व्यक्तियों पर कश्मीर का हेमन्त आघात करे तो कितना; उनके कमरे गर्म, उनका वेश गर्म, और सबसे आवश्यक उनका हृदय उल्लासयुक्त। लेकिन फिर भी नाक-भौं सिकोड़कर ही बैठे रहते हैं। उनकी सुखकर हवेलियों के बाहर ही सहस्रों लोग हिम और पाले में नंगे पाँव चलते फिरते हैं। पैरों में बिवाई फटती है और सख्त पीड़ा होती है, लेकिन उसे कौन देखे। उनकी सहनशक्ति असीम तो है ही, वह शारीरिक पीड़ा को वशीभूत कर लेती है। लगता है उनके पैरों में जान नहीं है। जितना भी दुख इन चलते फिरते अकिंचनों को होता है, उतनी ही वेदना पक्षियों को होती है, जिनके झुंड के झुँड सर्दियों में नष्ट हो जाते हैं। रोटी का टुकड़ा गिरते ही उस पर टूट पड़ते हैं। बुलबुल ने मनुष्य से मैत्री करना सीखा है। हाथ पर सूखे हुए फल, अखरोट की गिरी रखने की देर है कि आकर हाथ पर बैठ जाती है। रात्रि के ठण्डे वातावरण में पालतू कुत्ते व्याकुल हो उठते हैं और पौ फटते ही द्वार पर खड़े होकर दुम हिलाते उदर-पूर्ति करने की याचना करते हैं। कितने असहाय हैं ये पशु-पक्षी। जो हेमन्त के भीषण संग्राम में बच गया उसे वास्तव में नया ही जीवन प्रदान होता है।

सर्दियों की सबसे बड़ी समस्या अपने को गर्म रखने की है। इसका हल कश्मीरी ने कांगरी में ढूँढ़ा है। घर पर या घर से बाहर फिरन के नीचे कांगरी छुपाये हुए यह लोग फिरते रहते हैं। इसकी उपयोगिता से सम्बन्धित एक कहानी भी प्रचलित है। कहते हैं, कश्मीर के लोगों को सर्दी से बचाने के नुस्खे बताने के लिए एक भीषक बाहर से आया। बारामुल्ला पहुँचकर उसने एक नाविक को नदी

के किनारे गप्पें लड़ाते देखा। चिकित्सक ने सोचा शायद वह नाविक पागल होगा। वरन् इतनी सर्दी में नदी किनारे बैठा क्या करता। किन्तु जब चिकित्सक को पता चला कि नाविक ने फिरन (कुर्ता) के नीचे कांगरी छिपा रखी थी, वह तुरन्त ही वापस लौटने के लिए तैयार हो गया। उसके साथियों ने उसके इतनी जल्दी लौटने का कारण पूछा, तो वह बोला—'कश्मीरियों ने सर्दी से बचने की तरकीब ढूंढ निकाली है, मेरे वहाँ जाने की कोई जरूरत नहीं।'

कई विदेशी सैलानियों एवं लेखकों ने यह गप्प फैला रखी हैं कि कश्मीरी लोग कांगरी को गले में लटकाये फिरते हैं। कांगरी केवल हाथ से थामी जाती है, गले में लटकाये तो जान की खैर नहीं। यह वहनीय अँगीठी मिट्टी के बड़े प्याले के समान पात्र 'कुण्डल' से बनती है। इसके ऊपर बेद की पतली टहनियों का 'फ्रेम' सा बुना जाता है। फ्रेम पात्र से पाँच-छः इंच ऊँचा रहता है जिसे पकड़कर कांगरी को उठाया जा सकता है। ऊपर के ढाँचे पर भाँति-भाँति के रंग लगाए जाते हैं, जिसके कारण यह परितापनी देखने में भी सुन्दर लगती है। इसके अन्दर लकड़ी के कोयले का चूरा डालकर ऊपर से थोड़ी-सी आग डाल देते हैं। अँगारों की आग धीरे-धीरे कोयले के चूरे में फैलती है और गर्मी देती है। इसके अन्दर आग को हिलाने के लिए लोहे अथवा लकड़ी का चपटा चमच जैसा, 'चालन' धागे से लटका देते हैं। जहाँ कांगरी जायेगी 'चालन' भी साथ ही जाएगी, जैसे स्त्री के साथ उसके केशों की लटें। केशों को काटने से आजकल काम चल जाता है, लेकिन कांगरी की दुनिया निराली है।

सबसे खुरदरी कांगरी का प्रयोग गाँव-निवासी ही करते हैं, क्योंकि उसके दाम कम होते हैं, लेकिन वह ज्यादा गर्मी नहीं पहुँचाती। जितनी ही पतली बाहर की 'फ्रेम' की तीलियाँ हों, उतनी ही अधिक उष्णता वह देगी। इस श्रेणी में 'खोजा' कांगरी बहुत प्रसिद्ध है, लेकिन दाम अधिक होने के कारण इसका प्रयोग 'खोजा' (धनाढ्य) व्यक्ति ही करते हैं। अनन्तनाग, शाहाबाद, सोपुर आदि स्थानों में प्रति वर्ष लाखों की संख्या में कांगरियाँ बनती हैं। किन्तु 'चार' की कांगरी से किसी का मुकाबला नहीं, वह एक खास पेड़ की शाखाओं से बनती है जिसमें उष्णता का विसर्जन करने की विशेष क्षमता है।

कांगरी

मुझे यह मालूम नहीं कि कांगरी का उद्भव कब हुआ था। लेकिन अक्सर लोगों का मत है कि मुगलों के राज्य-काल में इसका प्रयोग इटली के एक सैलानी ने कश्मीरियों को सिखाया था। मेरा इस मत से विरोध है, क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि सर्दी से बचने के लिए कश्मीरियों ने
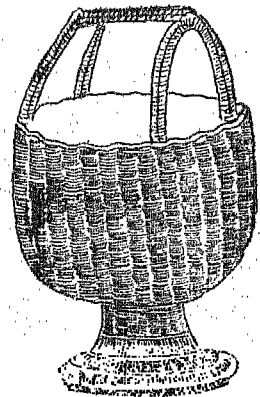
किसी चीज का आविष्कार किया था। मैंने पहले कहा है कि कांगरी में या तो लकड़ी के कोयले का चूरा या छोटी-छोटी टहनियों को जलाने से जो कोयले की भस्म उपलब्ध होती है, उसी का प्रयोग होता है। ग्रामीण सर्दी के मौसम में लकड़ी के कोयलों की बोरियाँ पीठ पर उठाए शहर में बेचने आते हैं। इन्हें कड़ाके की सर्दी में भी आराम नहीं मिलता, क्योंकि पेट की जरूरत देह को सेंकने से तो पूरी नहीं होगी। कांगरी की जरूरत को लोगों ने माना है, इसके बिना हजारों मौत का शिकार बन जाएँ। जैसे भारत के अन्य हिस्सों में निर्जला एकादशी के दिन मटके दान में देने की प्रथा प्रचलित है, उसी प्रकार कश्मीर में लोग मकर-संक्रान्ति को कांगरियाँ पुण्यार्थ लोगों को देते हैं।

मुझे कांगरी का भविष्य कुछ उज्ज्वल नहीं दीखता। कश्मीर की यह अनुपम चीज किसी दिन विस्मृति के प्रदेश में चली जाएगी। जनसंख्या बढ़ रही है, जंगलों का विध्वंस हो रहा है, इसलिए लकड़ी का कोयला कहाँ से और कितनी मात्रा में आता रहेगा? अन्य किसी चीज जैसे पत्थर का कोयला, लिगनाईट आदि का इसमें प्रयोग नहीं कर सकते हैं। उपले की आग से काम चल जाता है, लेकिन अब गोबर का ज्यादातर खाद के तौर पर इस्तेमाल करने का प्रचार हो रहा है; और है भी ठीक। मैं कोई भविष्यवाणी नहीं कर रहा हूँ, लेकिन अगर किसी नदी का प्रवाह टूटे, तो यह कहना कौनसी बड़ी बात है कि वह सूख जाएगी। साथ-ही-साथ कोयला जलाने का प्रचार हो रहा है क्योंकि जलाने की लकड़ी की बहुत किल्लत है। लगता है कि जल्दी ही कश्मीरियों का कांगरी से सम्बन्ध छूट जाएगा। लेकिन किया भी क्या जा सकता है। यदि लोग समृद्धि के रास्ते पर चलते ही जाएँ तो घर-घर में अँगीठी होगी, बिजली के 'हीटर' होंगे और सर्दी से बचने के लिए और साधन निकल आयेंगे। तब कांगरी एक स्मृति बनकर ही रह जायगी। यदि मेरे जीवन-काल में कांगरी को गौरव के सिंहासन से उतारा गया तो मुझे दुख होगा ही।

बर्फ को भूल ही गया। मैं तो यही चाहता हूँ कि गर्मियों की बजाय ज्यादा लोग सर्दियों में कश्मीर जाया करें। जिन्होंने बर्फ का नयनाभिराम दृश्य नहीं देखा, उन्होंने अपने साथ अन्याय किया है। मुझे याद है कि बर्फ गिरी थी और मैं शंकराचार्य की पहाड़ी पर गिरते-फिसलते चढ़ा था। मन्दिर तक पहुँचने में डेढ़ घण्टा लगा, लेकिन इतनी स्फूर्ति का अनुभव हुआ जैसे मेरा कायाकल्प हो गया था। वहाँ से जो दृश्य देखा, अभी आँखों के सामने है। थोड़ी धूप निकल आई थी, आकाश नील-वर्ण था और रजत-समुद्र जैसी बर्फ की विस्तृति पर दिवाकर की रश्मियाँ क्रीड़ा करती हुई आँखों को चौंधिया रही थीं। दूर छोटी-छोटी गलियों में बच्चे धूप सेंकने निकल पड़े लेकिन पीछे उनकी माताएँ दौड़ती हुई निकलीं और अपने लालों को खींचकर अन्दर ले गईं। शिशिर-काल में धूप और छाँव आँख-मिचौनी खेलते हैं, लेकिन धूप का कोई भरोसा नहीं।

कहीं-कहीं पर टूटे मकानों की दरारों में छिपे हुए पक्षी भी निकल आए हैं क्योंकि अभी पेड़ों पर घोंसले नहीं बना सके हैं। बसन्त तो आएगा ही। शिवरात्री का उत्सव ही मौसम के बदलने का सूचक है। हवा में मामूली गर्मी का अनुभव होता है और उसके साथ पाले का भी अन्त होता है। झीलों में जमी हुई बर्फ पिघलती है। नीचे स्वच्छ पानी निकल आता है। मकानों की छतों से पिघलती हुई बर्फ से टप-टप पानी गिरता है। मूंछ वाले बाबा को अब किस का डर, दो दिन पहले ही उसकी नाक से निकली हुई वाष्प शीत पवन के स्पर्श से मूंछों पर जमकर बर्फ बन गई थी। और व्यग्र होकर उसे विवश घर लौट आना पड़ा था। मूंछों के लिए कश्मीर का जाड़ा मार है—अब तो वहाँ लम्बी मूंछें रखने का शौक लोगों में कम हो रहा है।

बर्फ पिघल गई और फिर हरियाली निकल आई। पल्लवहीन वृक्षों में फिर नव-जीवन का संचार हुआ। पहले पक्षी उनकी शाखाओं पर चहक उठे, लेकिन लोगों का मन अभी उल्लसित नहीं हुआ। सभी पेड़-पौधे शिशु-से लगते हैं। नील मसृण पत्तियाँ और सुच्यग्र शिखान्त। हारी पर्वत के अँचल में बादाम के पेड़ शगूफे से भर गए। फूल सफेद और असंख्य, भ्रम होता है कि शायद बर्फ गिरी हो। बादाम के पश्चात् अन्य फलों के पेड़ों पर फूल खिल उठे। मेरे बगीचे में एक सेब का पेड़ है, है तो जवान लेकिन बैशाखी भी आ गई, और छोटी पत्तियों के सिवा उसमें वसन्त का कोई चिन्ह नहीं है। वह तो बहुत देर से फूलता है। हवा में शीतलता है, बूढ़े लोगों ने अभी कांगरी का साथ नहीं छोड़ा है। वैसे मौसम सुहावना है। कभी बारिश के छींटे पड़ते हैं और कच्ची, गन्दी नालियों में कीचड़ इतनी होती है कि चलना-फिरना हराम हो जाता है। जूते बेकार हो गए हैं और दुख होता है उसकी पालिश का सत्यानाश होते देखकर। अगर दूर से मोटर आती दिखाई पड़े तो लोग घबराकर ऐसे भागें जैसे तूफान आ रहा हो। कपड़े अगर कीचड़ में लथपथ हो जायें तो सर्दी में जल्दी सूखेंगे भी कहाँ।

धूप में गर्मी बढ़ने लगी और धीरे-धीरे गर्मियों का मौसम आ गया। लेकिन उसके आगमन पर कोई हल्ला नहीं हुआ। किसी ने ठण्डे कपड़े नहीं पहने हैं। जब नदियों का पानी चढ़ने लगता है, उसमें मीरा क्रीड़ा करती हैं, चिनार पल्लवान्वित हो जाता है और फूल खिलने लगते हैं, तो सैलानियों का पहला दल श्रीनगर में प्रवेश करता है। अबाबील ने जाड़ा दक्षिण प्रदेश की गर्मी में काटा, अब वापिस लौट आई है। श्रीनगर के बाजार फिर दुल्हन की तरह सजाए गए हैं। डल झील में असंख्य 'शिकारा' नौकाएँ तैरती नजर आ रही हैं। कश्मीरी-कारीगर प्रसन्न हैं सैलानियों के आने पर। नाविकों की खुशी की सीमा ही नहीं, सारी सर्दियों शिकारे और हाउसबोट सज-धजकर तैयार रखे थे। चारों ओर हरियाली देख विश्वास नहीं होता कि कभी जाड़ा भी आया था और हरी-हरी घास, शोभायमान पेड़ और झूलती हुई लतायें

बर्फ के नीचे दबकर अदृश्य हो गए थे। स्वयं हमें विश्वास नहीं होता, फिर सैलानी को कैसे हो !

फल और सब्जियाँ तैयार हो गई और उनसे दुकानें भर गई। बाहर के लोग गर्मियों में सब्जियों के अभाव से अच्छी प्रकार परिचित हैं, इसलिए वे अधिक-से-अधिक उपभोग करना नहीं भूलते। झीलों में कमल खिल उठे हैं और मुगल-बागों में बहार आ गई है। छुट्टी के दिन तिल धरने को जगह नहीं मिलती। यह मालूम नहीं पड़ता कि पतझड़ क्योंकर आता है । हवा में कुछ ठण्डक आ गई और पेड़ों की ऊँची-ऊँची शाखाओं पर पत्तों ने रंग बदला। यह सच ही है कि कश्मीर की शरद् ऋतु सब मौसमों से सुहावनी होती है। हर एक पेड़ लाल-पीला वेश धारण कर फूलता हुआ लगता है। दिवस के अवसान से पहले जब रवि की डूबती रश्मियाँ वृक्षों और बनस्पतियों का आलिंगन कर उनका रक्तावरण कर देती हैं, तो लगता है कि चारों ओर आग लग गई है। तब सैलानियों का निकास आरम्भ होता है। गुलमर्ग, पहलगाँव आदि ऊँचे स्थानों में सर्दी काफी पड़ती है इसलिए वहाँ से लोग पहले ही चले आते हैं। अक्टूबर के अन्त तक यात्रियों का बहिर्गमन पूरा हो जाता है। नाविक ने गुजारे के लिए पैसे कमा रखे हैं, दस्तकारी की चीजें बिक्री करने वाले प्रसन्न हैं—उनके माल की अच्छी खपत हुई। सारांश यह कि कश्मीरी सर्दियों के प्रथकत्व के लिए तैयार हो जाते हैं।

कांगरी की मौज है, छः महीने के वियोग के पश्चात् वह फिर काश्मीरियों के दिल की रानी बन गई है। आकाश पर बादल मंडराने लगे हैं, कुहासे का साम्राज्य है और पक्षी मौन बैठे हैं। बाजारों में चहल-पहल कम हो गई है। ऊँचे पेड़ों के पत्ते ठण्डी हवा के स्पर्श से सूखकर गिरने लगे हैं। मेरे उद्यान में बादाम के पेड़ की पत्तियाँ पहले ही झड़ गई थीं। ऐसा लगता है कि जाड़ा भागता-भागता आता है। मौज तो मेरी गुलाब की बेल की है, बारहों महीने उसका वसन्त ही वसन्त है।
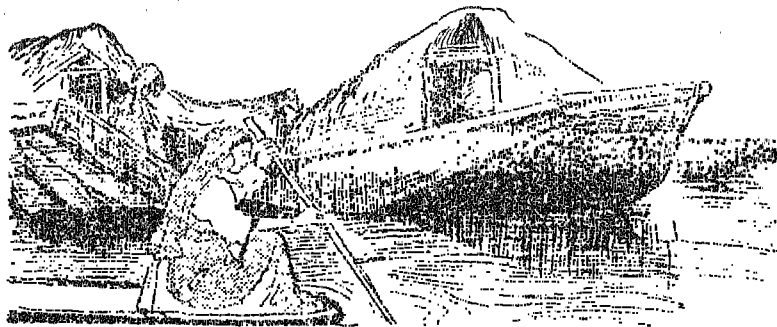
मुझे यह कहने में तनिक संकोच नहीं होता कि लोकप्रियता के लिए कश्मीरी कविता ने सदा संगीत का आश्रय लिया है। अल्प संख्या में होते हुए भी कश्मीरी बोलने वालों के बीच बहुत से उच्च कोटि के कवियों का उदय होना असाधारण-सी बात है। लेकिन अचम्भे की बात है कि कश्मीरी भाषा को कभी राजाश्रय नहीं मिला, बल्कि जनता ने ही इसे अपनाया। राज-सभाओं में काव्य-आख्यायिका द्वारा केवल संस्कृत या फारसी कवियों को ही सम्मान प्राप्त था। गोष्ठियों और समाजों में भी काव्य-कला इन्हीं कवियों को सम्मान के आसन पर बैठा देती थी। समाजों और सभाओं में मनोविनोद का साधन भी वही हुआ करते थे। एक समय ऐसा भी था कि कश्मीरी कवियों को किसान और गँवार का ही मनोविनोद समझा जाता था। लेकिन कश्मीरी कविता का इस प्रकार उपेक्षण होना ही उसके लिए सौभाग्य की बात थी। कवियों ने गाँव-गाँव घूमकर अपनी मधुर रचनाओं को लोगों को सुनाकर उनकी विचारधारा में क्रान्ति लाई। उन्होंने अलंकारों की इतनी परवाह नहीं की, जितनी रस की, जनप्रियता की। कश्मीरी भाषा में लिपि के अभाव के कारण उनकी रचनाएँ अकसर मुँहज़बानी देश के कोने-कोने में फैलीं। फलस्वरूप कविता के पढ़ने का नहीं, वरन् सुनने का ही रिवाज रहा। गीतकारों ने इन लोकप्रिय रचनाओं को 'छकरी' संगीत का विषय बना लिया। वही रचनाएँ लोकप्रिय हो सकीं जो छकरी के सुर और ताल पर ठीक उतरीं, अन्य स्मृति के असीम प्रदेश में विचर कर खो गईं। निरक्षर होने के कारण बहुधा लोगों ने ऐसी रचनाओं की माँग की जिन्हें वे गाकर ही

ठीक से समझ सकते थे। शुरू-शुरू में कवियों ने अपने श्रोताओं की याचना को तुच्छ समझकर तिरस्कृत किया, परन्तु समय के साथ उन पर यह प्रकट होता गया कि काव्य-कला का विकास करने के लिए वह उसे संगीत-कला से पृथक नहीं कर सकते थे।

यहाँ कला की बात चली। मेरी रुचि इस वाद-विवाद में पड़ने की बिलकुल नहीं है, कि काव्य भी कला है या नहीं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की शिकायत है कि सुप्रसिद्ध कश्मीरी पंडित क्षेमेन्द्र ने 'कलाविलास' नामक पुस्तक में शताधिक कलाएँ गिनाई हैं, लेकिन काव्य समस्यापूर्ति की चर्चा भी नहीं की है। क्षेमेन्द्र ने वेश्याओं की ६४ कलाएँ गिनाई हैं, जिनमें अधिकांश लोकाकर्षण और धनापहरण के कौशल हैं; कायस्थों की १६ कलाएँ हैं, जिनमें लिखने के कौशल से लोगों को धोखा देने की बात ही प्रमुख है। गाने वालों की अनेक प्रकार की धनापहरण की कौशलमयी कलाएँ हैं, सोना चुराने वाले सुनारों की ६४ कलाएँ गिनाई गई हैं। अन्तिम अध्याय में उन ६४ कलाओं की गणना की गई है, जिन्हें सहृदयों को जानना चाहिए। चौंसठ की संख्या में घूम-फिरकर आना ही यह सूचित करता है कि चौंसठ कलाओं की अनुश्रुति रही अवश्य होगी। निश्चय ही उनमें काव्य का स्थान था, यह आचार्यजी स्वयं मानते हैं। किन्तु यहाँ कहना चाहता हूँ कि कश्मीरी काव्य-कला का अर्थ स्त्री-प्रसादन और वशीकरण नहीं रहा है, इसका उद्देश्य विनोद तथा रसानुभूति तक ही सीमित है। कवियों में दर्द या टीस अधिक है, वेदना और करुणा का ऐसा साम्राज्य है कि जिसकी शोभा पर अन्य कोई सुख निछावर है।

आजकल यह प्रथा चल पड़ी है, या 'फैशन' कहिए, कि रहस्यवादी कवियों की वेदना को सामन्तशाही के अत्याचारों से ही सम्बन्धित किया जाता है। ललेश्वरी को अपने शिव की पीड़ा अत्यन्त प्रिय है, जैसे मीरा को नटनागर की, वह उसे छोड़ना नहीं चाहती। विरही के लिए पीड़ा ही एक-मात्र सहारा होता है, जिसके बिना उसका जीना असम्भव ही समझना चाहिए। अपनी यह विरह वेदना यदि कवियत्री को अपने उद्‌गार प्रकट करने पर विवश करती है तो उसका कारण सामन्तशाही को बताना कवियत्री की प्रतिभा को ठेस पहुँचाना, उसे तुच्छ समझना है।

कश्मीरी कविता का पाठकों को विस्तृत परिचय देने के लिए पूरी पुस्तक चाहिए। इसलिए इस अध्याय में यही प्रयास किया जा रहा है कि उसका विहंगम-चित्र ही दूँ। साथ ही साथ उसकी विशेषताओं पर भी जोर दूँगा। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जब से कश्मीरी कविता का उद्‌भव हुआ, वह ग्राम्य-जीवन का आवश्यक अंग होकर रह गई है। समय के साथ-साथ कवियों के मानसिक झुकाव में भी परिवर्तन आया, लेकिन उनकी काव्य-साधना निरन्तर गतिशील रही है। इसलिए आवश्यक है कि कवि को उसकी परिस्थितियों के बीच रखकर ही उसके जीवन और साहित्य का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जाय।

ये परिस्थितियाँ उसके जीवन को मोड़ती हैं और साहित्य में प्रतिबिम्बित होती हैं। साहित्यिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर उनके साहित्य में मौलिकता का जन्म हुआ। इन्हीं परिस्थितियों से कश्मीरी कवियों की भावनाएँ, कल्पनाएँ और विचार परम्पराएँ उन्हें नित्य नई सृष्टि के लिए बाध्य करती रही हैं। अकसर कश्मीरी कविताओं को, विशेषकर, वर्तमान रचनाओं को गान कहकर ही पुकारा जाय तो बुरा न होगा। यह कविताएँ गान भी हैं, लेकिन गान ताल-सुर के वाहन ही नहीं, अर्थ-गांभीर्य और शब्द-माधुर्य के आगार भी हैं। इन कविताओं में संगीत का रस है, गानों में कवित्व। यह गाए जाने पर ही हृत्तन्त्री को झंकृत करते हैं, और ठीक-ठीक समझ में आते हैं। भावचित्रण इनकी एक विशेषता है।

यह बात निश्चय ही ध्यान देने योग्य है कि कश्मीर में काव्य-रचना का श्रीगणेश महिलाओं द्वारा ही हुआ है। ईरान में जब सूफीमत जोरों पर था। कश्मीर पर मुसलमान शासकों के आधिपत्य का ही यह परिणाम हुआ कि सूफीमत फैलते-फैलते यहाँ आया। उस समय ललेश्वरी अपनी रहस्यपूर्ण रचनाओं को गाँव-गाँव में घूमकर सुनाती फिरती थी। सूफीमत और कश्मीरी रहस्यवाद के संगम से ही कई अच्छे कवियों का जन्म हुआ। ललेश्वरी का व्यक्तित्व असाधारण था। उसकी कविता को समझने के लिए हमें उसका गहरा अध्ययन करना पड़ेगा, उसकी आत्मा के भीतर उतरना पड़ेगा। कश्मीरी भाषा पर उसको बड़ा अधिकार था, इसलिए कश्मीरी भाषा के इतिहास में भी उसका स्थान महत्त्वपूर्ण है। उसकी कविता में दुखवाद का प्रभाव है। वह उसके प्रियतम शिव की देन है। उसकी रचनाओं को दार्शनिक-काव्य कहना ही उचित होगा। यह वह समय था जब कश्मीरी राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल से व्याकुल थे, इसलिए वे जीवन से कड़वे यथार्थ से घबराकर, आध्यात्म के शून्य प्रदेश में शरण ढूँढ रहे थे। ललेश्वरी के पश्चात् नुन्द ऋषि, हब्बाखातून और अरनीमाल ने भी आध्यात्मिकता की ही शरण ली, लेकिन हब्बाखातून ने प्रेम-काव्य को जन्म दिया। उसके गीत महजूर की रचनाओं को छोड़ कश्मीर में सबसे अधिक लोकप्रिय बने।

वर्तमान युग में महजूर ने कश्मीरी कविता को आध्यात्मिकता के बन्धन से मुक्त किया और उसे नए पथ पर अग्रसर किया। उसके लिखे प्रेम-गीत देश के बच्चे-बच्चे की जबान पर चढ़ गए। महजूर से शिकायत की जाती थी कि पटवारी के धंधे से निबटकर उसने पीर का धन्धा क्यों सम्भाल लिया है। उनका मत था कि वह इस तरह एक प्रतिगामी व्यक्ति बनकर रह गया है। इसकी व्याख्या मैं दूसरे स्थान पर करूँगा, पर यह तो कहूँगा ही कि उन्हीं की प्रेरणा का फल था कि आजाद, आसी, आरिफ और नादिम के दिल में विद्रोह-भावना भड़क उठी। संसार की विषमता

और शोषण तथा अत्याचार से पीड़ित कवियों का हृदय शक्ति का आवाहन करने लगा। उन्हें जन-समुदाय की शक्ति में विश्वास हो गया, और वह पीड़ित तृषित मानव को क्रान्ति के लिए कदम बढ़ाने के लिए कहने लगे। किन्तु यहाँ 'आजाद' की रचनाओं की एक विशेषता उनका प्रकृति-प्रेम रही। उन्हें प्रकृति का सुकुमार कवि कहा जा सकता है। स्वतंत्रता-संग्राम के तेज होने के साथ-साथ उनके हृदय में देशभक्ति की ज्वाला भड़क उठी, और वह एक नूतन भविष्य को उभरता हुआ देखने लगे।

प्रो० पृथ्वीनाथ पुष्प को कश्मीरी कविता में उल्लास की कमी खटकती है। मैं उनसे सहमत हूँ। वह स्वयं ही कहते हैं कि उल्लसित वर्णनों की अगर पुरानी कविता की कमी है, तो उसका कारण कवियों की प्रवृत्ति में ही नहीं, उस युग की प्रकृति में भी ढूँढ़ना जरूरी है। "उन दिनों क्षण-क्षण बदलते हालात ने कविता में अस्तव्यस्तता, अनिश्चय और छटपटाहट की अभिव्यक्ति को ही बढ़ावा दिया है। पर साथ ही फारसी शायरी के तसव्वुफ से प्रभावित होकर हमारे कवियों ने शैवदर्शन की उल्लास भावना के साथ इस नई प्रकृति को समन्वित करने की साधना की और ललद्यद की उज्ज्वल परम्परा को आगे बढ़ाया।"

इतना ही संक्षिप्त विवरण देकर आगे मैं इस प्रसंग में कुछ कवियों का पृथक्-पृथक् रूप से परिचय दूँगा।

ललेश्वरी

ललेश्वरी ने दार्शनिक के रूप में अपनी काव्य-साधना आरम्भ की और फिर भक्तिभाव-पूर्ण हृदय से अपने शिव के चरणों में प्रतिभा के पुष्प चढ़ाए। भक्ति में प्रेम का स्वर तीव्र होने के कारण उसमें वह सरलता, वह आकर्षण और वह माधुर्य है जो अन्य कवियों में शायद ही मिले। यदि उसमें मीरा की सी भक्ति-भावना थी, तो कबीर की तरह आत्मा-परमात्मा का एकीकरण भी उसका साध्य था। शैवमत में ज्ञान का महत्त्व है और सूफीमत में प्रेम का, लली ने दोनों का ही व्यवहार किया।

चौदहवीं शताब्दी में एक मध्यवर्गीय कश्मीरी पंडित घराने में उसका जन्म हुआ। उस समय कश्मीर का तीसरा सुलतान अल्लाउद्दीन राज्य करता था। उसके माता पिता श्रीनगर के पास ही पाँद्रेठन गाँव में रहते थे। उसके बचपन के बारे में बहुत कम जानकारी प्राप्त हो सकी है, लेकिन कहा जाता है कि उसकी प्रारम्भिक शिक्षा सिद्ध श्रीकंठ के हाथों हुई। उसी ने उसे शैवदर्शन का ज्ञान कराया। उसका विवाह छुटपन में पाम्पुर गाँव के एक ब्राह्मण युवक के साथ हुआ। सास बुरा बर्ताव किया करती थी, और पति भी संसार के प्रति उसके दृढ़ वैराग्य को समझ न सका, इसलिए दोनों की आपस में नहीं बनी। वह फिर अपने गुरु सिद्ध श्रीकण्ठ के पास

गई, जिसने उसके भक्ति-पूर्ण हृदय को परखा। लली को आत्मज्ञान हुआ और वह अपने आराध्य के चरणों में, उसकी भावना में लीन होकर, उन्हें खोजने निकली।

छांडाम भवनन बेयि श्यन दीशन,
नेब निशान लोबुम न कुने।
पृछाम मलन त बेयि तप ऋषन,
तिम ललि नोजि नोजि रिवने।

देश-देश में ईश्वर को ढूँढा,
पता न मिला उसका।
मुल्लाओं और ऋषियों से पूछा,
वे मेरी ही ओर देखने लगे।

संसार से विरक्त होने का कारण बताती हुई वह कहती है—

गाटुला अख वुछुम बोछि सील मरान,
पन पन हरान पुहुन वाव।
निछ्बुद्ध वुछुम वाजस मारान,
तन लल बो प्रारान छेन्यम ना शाह।

"एक बुद्धिमान को भूख से तड़पते हुए देखा, जैसे पतझड़ में हवा से पत्ते गिरते हैं। एक मूर्ख को अपने रसोइया को फटकारते भी देखा, तभी से चाह हुई, मेरे साँस रुक जायें।"

लली की एक विशेषता है कि आत्मज्ञान होने पर भी अद्वैतवाद या सूफीमत का विज्ञापन नहीं करने लगी। उसका तत्व प्रेम-भक्ति और आत्म-समर्पण का था। मानवता की सामान्य भूमि पर खड़ी होकर उसने एक नए निराले आराध्य की कल्पना की—

ईश्वर तप नहीं चाहता,
प्रेम से ही उसको पाना होगा।
भक्ति विलीन भी होओ, जैसे नमक घुलता पानी में,
तब भी उसको पा न सकोगे।

लली हिन्दू मुसलमान ऐक्य की प्रचारक थी और साथ-ही-साथ समाज-सुधारक भी। परन्तु ऐसी जो कथनी-करनी में भेद नहीं करती। वह कहती है—

शेव छुई थलि-थलि रोजान,
मो जान ब्योन ह्योंदं त मुसलमान।
त्रुखई छुक पनन्नई पान परज़ान,
सोई छय साहिबस सीत असली ज़ान।

शिव सब में व्यापक है,
हिन्दू-मुसलमान में भेद न समझो।
पहले अपने को पहचानो,
वही शिव का परिचय होगा।

कई वर्ष ऐसी ही हालत में रहकर वह संसार से विरक्त हो गई और गाँव-गाँव में घूमकर अपनी कविता का प्रचार करने लगी। तन ढाँपने को वस्त्र नहीं था, लेकिन प्रेम की दीवानी लली को उसकी आवश्यकता ही क्या? रूढ़िवादियों ने उस पर ताने कसे, लेकिन वह निश्चिन्त गाती ही गई—

ताने कसें या स्वागत करें,
करें जो मन करे उनका।
पुष्प बरसाएँ मुझ पर लाभ किसका,
मैं तो निर्मल हूँ।
दुनिया कहे जो कहे,
मन मलिन न होगा मेरा।
शिव की दासी मैं,
आरसी पर धूल ठहरेगी क्या?

ललेश्वरी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। वह धार्मिक गुरु थी, कवियत्री थी, समाज-सुधारक थी और हिन्दू-मुसलमान-एक्य की समर्थक। उसका शिव वास्तव में निर्गुण ही है, सगुण नहीं। इसलिए जब वह निर्गुण शिव का स्मरण करती है, उसका सगुण रूप को अस्वीकार करने से ही होता है।

दैव वटा दिवर वटा,
हेरि बोन छुय ईक वाट।
पूज कस करख हुँ बटा,
कर मनस त पवनस संघाठ।

लिंग पत्थर का, मन्दिर पत्थर का,
ऊपर (मन्दिर) और नीचे (लिंग) दोनों एक हैं।
मूर्ख पंडित किसकी उपासना करेगा,
मन और आत्मा का संयोग कर।

अपने ही अनुभव से वह कहती है—

अपने को प्रत्येक पदार्थ में पाया,
ईश्वर को चारों ओर देदीप्यमान देखा,

तनिक सोचा—जाना,
सर्वत्र शिव ही है, लल्ली कौन ?

ललेश्वरी की कविता में वह आकर्षण और माधुर्य है, जो अन्य कवियों में शायद ही मिले। उसने कश्मीरी भाषा में मुहावरों का प्रयोग इतने सुन्दर ढंग से किया है, कि और कोई नहीं कर पाया है। उसने एकदम गतिशील और क्रान्तिकारी साहित्य की रचना की, उसका उद्देश्य जनता-जनार्दन की सेवा था। उसकी कविता हिन्दू और मुसलमान, दोनों को प्रिय है। मुसलमान उसे लल 'आरिफा' कहने लगे और बिलकुल अपना ही समझने लगे।

नुन्द ऋषि

नुन्द ऋषि का जन्म १३७७ ई० में श्रीनगर से २५ मील दूर खैमुह गाँव में हुआ। उसके पूर्वज किश्तवार से कश्मीर आए। उसके पिता सालार संज ने एक सुन्दर तथा विद्वान महिला शारदा माजी से विवाह किया, जो नुन्द ऋषि की माँ बनी। बचपन से विरक्त-भाव उसके मन में गढ़ गए और सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने की उसकी चाह हुई। उसने अनेक धंधे किये, लेकिन उनमें जी न लगने के कारण सफलता नहीं मिली। जब आयु बाईस वर्ष की हुई, उसका विवाह जयदेद के साथ हुआ। उनके दो बच्चे भी हुए, लेकिन फिर भी सांसारिक मोह नही लगा। उसके सगे-सम्बन्धियों को उसका ऐसा व्यवहार कुछ अच्छा न लगा। उसने घर से चले जाने की ज़िद्द की। माँ ने पूछा कि अपनी स्त्री और बच्चों को भी क्यों नहीं साथ ले जाता, उन्हें किसके सहारे छोड़ेगा। लेकिन वह घर से चल ही पड़ा और एक गुफा में रहकर १२ वर्ष तपस्या की और सूखकर काँटा हो गया। उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैली और लोगों ने उसकी कविताओं को कण्ठस्थ कर लिया। अपने संयमी जीवन के बारे में कहता है—

गोफ़ हा बन्वे स्वर्ग लरि,
जन्दा हा बलै पट्यिकी,
गगरग जन राजि शोकन्यन जन गिन्दै,
वरीह हा बनै घरि ढाई।

गुफा ही मेरा महल,
चीथड़े मेरे रेशम समान,
चूहों के संग क्रीड़ा करता—
हूँ जैसे सौभाग्य-चिन्ह—
एक वर्ष दो घड़ी तुल्य।

नुन्द ऋषि लली की तरह दार्शनिक और रहस्यवादी था, वह लोगों को प्रेरणा देता था कि वे अपनी आत्मा को ही टटोलें—

शेख, मुल्ला, पंडित से तेरा क्या काम,
पशुओं को 'अरखोर' पत्ते क्यों खिलाओ,
मन्दिर-मसजिद में क्यों कैद हो जाओ,
मन को ही टटोलो, ईश्वर प्राप्त होगा।

उस समय साम्प्रदायिकता अपना सिर उठा रही थी। दिखावे और पाखंड के विरुद्ध उसने भी आवाज उठाई और मानव भाई-चारे का समर्थन करते हुए मध्यम मार्ग को सराहा। उसी ओर संकेत कर कहता है—

तसबीह च़ैन गुनसी हिशा,
मुरीद डीशिथ करान रवम,
सथ चौनि ल्यैथम हिशम हिशो,
चै पीर त रहजान कम ?

तसबीह तुम्हारी साँप समान,
चेलों को देख फिरते हो,
सात थाली भरपूर भोजन किया,
तुम पीर तो चोर कौन ?

भविष्यवाणी करते हुए उसने कहा—

लोहे के युग में झूठे ही उन्नत हैं,
पुण्यात्मा दरिद्र और दुखी ही देखे।

नुन्द की प्रसिद्धि सारे देश में फैली। उसने ऋषियों के एक समुदाय की नींव डाली और जगह-जगह आश्रम खोले। जब उसकी मृत्यु ६३ वर्ष की आयु में हुई तो सुलतान जैनुलाबदीन भी शोकातुर हो उसकी अर्थी के पीछे-पीछे चले। उन्हें चार गाँव में दफ़नाया गया। उसका नाम मीर मुहम्मद हमदान ने शेखनूरुद्दीन रखा।

हब्बाखातून

ललेश्वरी ने जो रहस्यवादी एवं दार्शनिक काव्य लिखने की प्रथा चलाई, उसको कुछ हद तक हब्बाखातून ने बदला। पहले-पहल प्रेम-गीत उसी ने लिखे। उसने ज्यादा गीति-काव्य की रचना की जो कुछ हद तक स्वर और ताल के बन्धन में सीमित हैं। यह सच है कि वह अपनी ध्वन्यात्मिकता में ही गेय है, उनमें संगीत काव्य का अनुयायी है और जो मानव वृत्तियों के चित्रण की गति और सौन्दर्य दे देता है।

हब्बाखातून की कविता की इस विशेषता का कारण है—उसका जीवन। उसका जन्म सौलहवीं शताब्दी के मध्यकाल में चन्दहार नामक गाँव में हुआ। वहाँ केसर के खेत समीप ही दीखते हैं। नाम उसका 'जून' (चान्द) रखा गया। प्रारम्भिक जीवन में उसके पिता ने उसे 'गुलिस्तान-बोस्तान' सीखने के लिए मकतब भेजा। अपने कोकिल-कण्ठ के कारण वह तुरन्त ही गाँव-गाँव में प्रसिद्ध हो गई। पिता ने इसके लिए उपयुक्त वर ढूँढने की कोशिश की, जो न मिलने पर उसका विवाह एक गँवार से कर दिया। जून अपने गृहस्थ्य जीवन से विरक्त हो गई और प्रेम-गीत गाने लगी—

म्य करिमस पोशन दस्तै,
कर यीयम बल्य बालयार,
दादि लीहन्दे दिल गोम खस्तै,
कर हाव्यम बल्य दीदार।

मैंने फूलों के गुच्छे बनाए,
सखी, प्रियतम कब आएगा,
उसके दर्द से दिल तार-तार हो गया,
आली! कब आएगा प्रीतम?

एक दिन उसके भाग्य का परिवर्त्तन हुआ। वह अपने खेत में खड़ी गा रही थी, और कश्मीर का सम्राट् युसुफ शाह चक वहाँ से आ निकला। जूनी की सुन्दरता और उसकी सुरीली तान ने उसे आकर्षित किया। थोड़े ही दिनों में वह ग्रामीण कन्या कश्मीर की मल्लिका बन गई। यह समय था जब उसकी रचनाओं में कहीं-कहीं उल्लास चित्रण हुआ, और वह रंगरलियों में मस्त होकर गाने लगी—

"शालामार में बैठकर मैं मदिरा के प्याले भरती,
मस्ती में झूम रही हूँ, प्रियतम आने वाला है,
प्रिय के लिए पुष्पों की माला गूँथ रही,
प्रियबाला मैं, कुसुमों को एकत्रित करती।
इशबर में मदिरा के शीशे भरती,
केशों को गूँथ रही, प्रियतम आने वाला है,
प्रिय के लिए फूलों की माला बना रही,
मैं प्रियबाला कुसुमों का कर रही हूँ चयन।"

लेकिन उसके सुख के दिन थोड़े ही थे। अकबर ने षड्यन्त्र रचकर यूसुफशाह चक को बन्दी बनाकर दिल्ली पहुँचाया और कश्मीर पर अपना आधिपत्य जमाया। हब्बाखातून की विरह वेदना अपार थी, वह महल छोड़कर चली गई। उसकी

रचनाओं में उल्लास की हलकी गुनगुनाहट दबकर रह गई, और उस पर दुखवाद का प्रभाव पड़ा। वह सदा शून्यता का अनुभव करने लगी। उसके जीवन का अलौकिक सुख-स्वप्न नष्ट हो गया और हृदय मे उल्लास और उत्साह का स्थान विषाद और निराशा ने ले लिया।

> रुठिमितिस लस यारस,
> वन्यतोस म्योन नीलजार,
> यी न त म्येनी डिय छसतै,
> करसै सर निसार।
>
> सखी ! मेरे प्रीयतम को
> मेरी विरह वेदना कहना,
> न आने पर मेरी कसम देना,
> हाय ! मेरा सर उसी पर निछावर है।

उसी समय उसने एक लोकप्रिय गान की रचना की, जो अब भी बच्चे-बच्चे की जबान पर है—

> "चि कम्यू सोनि म्यानि अम दि था न्यून खो···।"
> तुम्हें मोहित कर मुझसे किसने छीना ?
> क्यों बैर हुआ मुझसे ?
> मै व्याकुल, आँखों से अश्रुधारा बहाती,
> सभी द्वार खुल्ले छोड़,
> तेरा स्वागत करने बैठी हूँ,
> क्यों नही आते, निर्मोही ?
> मेरे चश्मों में ताजगी नही रही,
> सावन की गर्मी में बर्फ-सी पिघल गई मै,
> अब भी तुम्हारी ही हूं।
> आकर मुझे अपनी दासी बनाओ,
> मुझसे दूर मत हो।

पीड़ा और प्रियतम कुछ ऐसे घुल-मिल गए कि दोनों में अन्तर ही न रहा। उसकी कविता में आवेग बहुत है, भाव कम। उसका सारा काव्य संगीतमय है। जनश्रुति है कि नदी के किनारे गाते हुए ही उसने अपने प्राण छोड़े थे।

हब्बाखातून के पश्चात अरनीमाल, महमूद गामी, रसूलमीर आदि ने भी अपनी रचनाओं में मानव-प्रेम का प्रचार किया। उनकी कविताओं और गानों में भी रहस्यवाद की छाप दिखाई पड़ती है।

वर्तमान युग

महजूर से कश्मीरी साहित्य का नया दौर शुरू होता है। महजूर ही पहला कवि था जिसने कश्मीरी कविता को अध्यात्मिकता के कारागार से निकालकर उल्लास और स्फूर्ति के पथ पर अग्रसर किया। उसका सारा साहित्य संगीतमय है, लेकिन सुर से विच्युत होने पर भी उसके गान प्रेरणा और स्फूर्ति देते हैं। पहले पहल तो उसने सामूहिक उल्लास के गीत गाए जो छकरी की संगत से अधिक लोकप्रिय हुए। उसके जीवनकाल में ही कश्मीर में राजनैतिक जागरण हुआ और उसे लगा कि उसका साथ देना ही उसका कर्त्तव्य है। तब उसने युग की माँग को समझा—

वुछिथ महजूर नविस रसस कुन
नवुय रंगा ह्यवान हावुन,
नविस समयस नविस दौरस,
नवुय गुफ्तार आसुन गोछ।

नए युग को देख,
महजूर को नया ही रस लाना पड़ रहा है,
नए दौर में, नए समय में,
नई वाणी होनी चाहिए।

और उसे लगा कि कश्मीर के लिए एक उज्ज्वल भविष्य की नींव पड़ रही है। तब उसने युवकों का आह्वान किया—

वलो हा बागबानो नौ बहारुक शान पैदा कर,
फोलन गुल गथ करन बुलबुल तिथी समान पैदा कर,
चमन वैरान रियान शबनम चटिथ जाम परेशान गुल,
गुलन तै बुलबुलन अन्दर दुबारा जान पैदा कर।

माली आओ, नई ही बहार की शान पैदा करो,
फूल खिल उठें, बुलबुलें चहक उठें, ऐसे साधन पैदा करो,
बाग उजड़ रहा है, शबनम रो रही है, और फूल परेशान हैं,
फूलों और बुलबुलों में नई जान पैदा करो।

कई लोगों ने महजूर से शिकायत की कि उसने राजनीतिक आन्दोलन में सक्रिय भाग नहीं लिया। हल्ला-गुल्ला करके, गला फाड़कर या लेक्चरबाजी करके जो आन्दोलन किया जाता है, वह उसे नहीं जानता था। उसका मत था कि दलित, अपमानित लोगों की सेवा करने का यह ठीक तरीका नहीं है। सेवा करने वाले को चुपचाप सेवा करते रहना चाहिए। वह कश्मीरियों की विचारधारा में जो क्रान्ति लाया उससे किस को इनकार नहीं हो सकता है।

सुबह छुम, बाग छुम, मस्ताना दिल छुम, ताज यावुन छुम,
बहारस दाद द्योन छुम, शोक सान गुलज़ार छावुन छुम ।
छि होछ्‌ मुच पोश थरि बागस, कमी आबस गामच नागस,
खसुन छुम अब्र लेगिथ, आसमान बारान आवुन छुम ।।

सुबह है, बाग है, मस्ताना दिल है, ताजा यौवन है,
बहार की मैंने दाद देनी है, बाग में शौक से आनन्द लेना है ।
बाग में लताएँ मुरझा गईं, चश्मे का पानी कम हो गया,
बादल बनकर आसमान पर चढ़ना है और पानी बरसाना है ।।

फिर कश्मीरी जनता की ओर संकेत कर कहता है—

करी कुस बुलबुला आज़ाद पंजरस मंज च नालान छुख,
च्य पनने दस्त पनन्यन मुश्किलन आसान पैदा कर ।

"हे बुलबुल, तुम पिंजरे में पुकार कर रहे हो, तुम्हें कौन आजाद करेगा । तू अपने ही हाथों से अपनी इस मुशकिल से छुटकारा प्राप्त करले ।"

अपनी सुन्दर कविता 'ग्रीस कूर' (किसान कन्या) में उसने कश्मीरी स्त्री की बेबसी का चित्रण किया है—

क्याह कर व्यसिये लोन निस न्यायस,
यावन रायस छु नि म्यानि माय,
रंग रंग दोख त दाद्य चालान आयस,
लोलस करान लोलमत लाय ।

सखी ! भाग्य की विडम्बना को क्या करूँ,
मेरे यौवन के राजा को मुझ से प्रेम नहीं,
मैंने हर तरह के दुख सहे,
मैं प्यार को दिल में लिए फिरती हूँ ।

अपने देश की बेबसी पर दो आँसू बहाते हुए महजूर कहता है—

च़ायि पश्य लोत पाठ्य बागस,
न्याय फल छोकुरुख चोपार्य,
अस्यि बुवान रुद्य पानवान्य,
तिम पोश चटिय चटिय गयि निवान···।

बाग में चुपके से पशु घुस आए,
उन्होंने चारों ओर फूट बोई,
हम आपस में लड़ते ही रहे,

वह चुनचुनकर फूल उठाते गए ।
ऊपर गिद्ध और नीचे बिल्ली मेरी ताक में हैं,
कहाँ तक छुपाऊँ अपने को फूलों, पौदों में ?
मैं गड़हों, खन्दकों में चोरी-छिपे समय बिताता हूँ,
माली खामोश मेरी बरबादी देख रहा है ।

लेकिन महजूर निराशावादी नहीं था । उसे अपने देश के उज्ज्वल भविष्य की झाँकी मिली थी—

"शरद् के तूफान को टहनियाँ सह लेंगी,
वसन्त भी एक दिन आएगा—
पूछताछ करेगा ही ।
वही खिल उठेगा जो
जंजालों से मुँह नहीं मोड़ेगा,
पर्वतमाला पर पड़ा प्रकाश ।"

महजूर का सारा साहित्य संगीत और उल्लासपूर्ण है, हालांकि कहीं-कहीं उसके गान गरीबी के आँसुओं से मिटे-मिटे दिखाई देते हैं । कश्मीर की कविता महजूर की चिर ऋणी रहेगी । गुलाम अहमद महजूर का जन्म पुलवामा में १८८५ ई० में हुआ था और मृत्यु १९५२ ई० में हुई ।

अब्दुल अहद आजाद अगरचि महजूर का समकालीन था, उसमें जोश अधिक था । अपनी गजलों में [illegible] गाए तो उनमें स्फूर्ति थी । वह तो प्रकृति तथा सौन्दर्य का उपासक था, किन्तु आरम्भ से ही चिन्तनशील; वह उसके कवित्व में ध्वनित होता है । कवि के भीतर प्रकृति-प्रेम ने आकर्षण को जन्म दिया और उस आकर्षण प्रेम ने सौन्दर्य को प्रकृति प्रति असीम से ही स्वदेशानुराग तथा स्वतन्त्रता की भावना जाग्रत हुई । वह कहता है—

वतनुक सोज लोग म्यूठ आजादस,
आबित सारी हावस ये,
वागंचि मसवल खास्य ह्यथ प्राराह,
ब्यथि असि कुन यी ना ये ।

देश का संगीत आजाद को मीठा लगा,
उसने सब हवस छोड़ दिए,
मदिरा की प्यालियाँ लिए परियाँ उसकी प्रतीक्षा करती,
कि शायद वह मुड़कर आए ।

और अपने प्रकृति-प्रेम को प्रकट करता हुआ कहता है—

स्वर्गच दोद कोल मानिथ त जानिथ, वोंद स्योन छुन मशरावान,
स्यन्दि, रम्बीआरस, व्यथि, वेरनागस, गंगाए त जमुनाए ।

"मुझे मालूम है कि स्वर्ग में दूध की नदियाँ बहती हैं; लेकिन मेरा दिल अपने सिन्धु, रम्बी-झरना, वितस्ता (झेलम) वेरनाग, गंगा और यमुना को नहीं भूल सकता ।"

या वह अपने देश की नारियों को सामाजिक बन्धनों से मुक्त होने को कहता है—

आवी प्रानी कस्स त अफ़सानै,
थावि जाल्य-जाल्य पंजर त ओलानै,
छावी यावनुक आवुन त हार व्यसिये,
नेरी छावने गुल त गुलज़ार व्यसिये ।

पुरानी कहानियाँ और अफ़साने छोड़ दे प्रियतमा,
अपने पिंजरे और बेड़ियों को जला, बाहर आ,
अपने यौवन के बसन्त को महका दे,
प्रिये ! फूलों और उपवन का आनन्द ले ।

'आजाद' को गुलामी में चैन कहाँ ? वह अपनी ही दरिद्रता को देखकर उतावला हो उठता है—

औलाद बड़शाह ह्यू रोछिमुत येम्य कोछि मंज
बोछि सीत्य मरान वतन प्यठ तिहुन्दी अयाल आस्या,
कल्हण, गनी ता सर्फी सैराब करि येम आबन,
सुय आब सान्य बापत जहरे हिलाल आस्या ?

"बाड़शाह जैसी सन्तान को जिस धरती ने गोद में पाला, क्या उसी का वंश भूख से तड़प-तड़प कर मर जाय । जिस धरती के जल से कल्हण, गनी और सर्फी फले-फूले, क्या वही हमारे लिए हलाहल विष बनेगा ?"

हालांकि 'आजाद' चालीस वर्ष की आयु में ही दुनिया छोड़कर चला गया, उसने स्वतन्त्रता के लक्ष्य को निकट आते देखकर भविष्यवाणी करते हुए कहा था—

रयत-कोल वालिन मूल मोंजि व्यसरन तुलकतरिच मंदोरिये,
शीनक्यन वालन छलि छलि वालन सोंतकालचि गगराये,
नप-नप करवुन माल कूत काल पकि अोगि माल अपजिकि बानै,
सरताल कहवचि प्यठ यलि खारन मोल तल वसि मूल माये ।

"गर्मी के आते ही बर्फानी अटारियाँ गिर पड़ेंगी । वसन्त की घन-गर्जन बर्फानी पर्वतों को एक-एक कर गिरा देगी । यह चमकता हुआ माल कब तक मंहगे दामों बिकेगा, पीतल को जब कसौटी पर परखा जायगा, तो मुलम्मा उतर आयगा ।"

इधर से मिरजा 'आरिफ़' ने कश्मीरियों की दुर्दशा को देखकर चीत्कार की। मजदूर और किसान की बुरी हालत उससे देखी नहीं जाती—

वनह्योज बालस कोर खोतुख
खोर ददी मा ?
शीन प्यठ ननवोर खातुख
खोर ददी मा ?
यति हो त बंबर छाव् ब्ययव
काव ब्ययव जी,
परदेस छ्यनिथ योर खोतुख
खोर ददी मा ?

तू पहाड़ की चोटी पर क्यों चढ़ आया,
तेरे पैर गल तो नहीं गए ?
बर्फ़ के ऊपर नंगे पैर चलकर आया,
तेरे पैर गल तो नहीं गए ?
यहाँ औरों ने आकर तुम्हारे सुन्दर फूलों की
महक लूट ली,
तू परदेश से लौटकर चला आया,
तेरे पैर गल तो नहीं गए ?

जब १९४७ ई० में पाकिस्तानी आक्रमण हुआ, तो आरिफ ने पुकारा—

चमन छु लालाजार म्योन, निशात शालामार म्योन,
यि जुव यि दिल निसार म्योन, वतन रछुन छु कार म्योन,
फिदा गछुन छि जिन्दगी, करव न जाँह ति बन्दगी,
सरव न जाँह दरिन्दगी, मरिथ वनान मजार म्योन।

मेरा देश सुन्दर है, मेरा निशात है, शालामार है,
इस पर मैं निसार हूँ, इसकी रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है,
कुरबानी के लिए ही जिन्दगी है, गुलामी में नहीं रहना है,
हम बर्बरता कभी न सहेंगे, यही सन्देश मर कर मेरा मजार भी कहेगा।

उससे पहले भी 'आरिफ़' ने कश्मीरियों को सचेत कर दिया था कि वे गुलामी के झंझट में न फँसे रहें, क्योंकि जो सदियों से गुलामी की जंजीरों में जकड़ा गया हो, वह जानता नहीं कि आजादी क्या चीज है।

शेर के मुँह में भी रास दें,
तो उसकी क्या चलती है ?
गुलामी बुद्धि भ्रष्ट कर देती है,
दिल मारती है,
धर्म से दूर हटाती है;
आरिफ़ ! देख तो ले, गुलामी
क्या-क्या मर्ज पैदा करती है ।

महजूर की मृत्यु के पश्चात् कश्मीरी कवि-जगत् में ऐसे साहित्यकार की जरूरत पड़ी जो प्रतिभाशाली कवियों का प्रतिनिधित्व कर सके। सौभाग्य से दीनानाथ 'नादिम' इस नए युग का नेतृत्व करने के लिए तैयार हो गया। 'नादिम' का जन्म निम्न मध्यवर्ग में हुआ, बचपन में बहुत संकट देखा। अभी भी एक प्राईवेट स्कूल में अध्यापक है और दिन-रात काम कर अपना निर्वाह करता है। पहले पहल उर्दू में ही कविता करता था, लेकिन जब से १९४७ ई० की क्रान्ति आई, और नये युग का जन्म हुआ, उसे लगा कि लोगों तक पहुँचने के लिए कश्मीरी भाषा को ही अपनाना पड़ेगा। तब से कश्मीरी में कविता करने लगा। पहले पहल 'नादिम' ने कश्मीर की दबी हुई निःसहाय जनता को जीवन का सन्देश दिया—

च्य कस्य वोननय, चु छुख बेकस त बेबस,
च्य कस्य वोननय, छि बुलबुल चान्य हारिथ।
बिहिल वीरानन मंज़ कार मारिथ
च छ्युख हीमालि हुंज़ जिठ टाठ हिश कूर,
लदय छिय तूर आभूषण च्य भरपूर।
तुम्हें किसने कहा, तुम बेबस हो ?
तुम्हें किसने कहा तुम्हारी बुलबुलें पराजित हो
गर्दन मोड़ कर वीराने में बैठी हैं ?
तू तो हीमाल की बड़ी, प्यारी बेटी है, माँ !
तुम आभूषणों से लदी हो।

नादिम की कविता में सबसे बड़ी विशेषता है, उसकी विद्रोह भावना। समाज, साहित्य और व्यक्तिगत जीवन में बन्धनों को ठुकराने का वह पक्षपाती है। वह संसार की विषमता और शोषण तथा अत्याचार से पीड़ित है और वह शक्ति का आह्वान करता है। उसे जनशक्ति में विश्वास हो गया है और वह कौम को आगे बढ़ने को कहता है—

च छुख कशीरि हुन्द जवान, तुलुन च्य छुई अलुफ निशान,
बुछान च्य कुन ब्रुस जहाँ—

वुशुन-वुशुन वज़ुल-वज़ुल,
वज़ुल-वज़ुल वुशुव-वुशुन,
छु खून म्योन !
जवान छुस तूफान ह्यू, तूफान ह्यू जनून म्योन,
म्य छुम कशीरि प्यठ फिदा गछुन ति जान दुन ।

तुम कश्मीर के जवान हो,
तुम्हारी ओर सारी दुनिया देख रही है,
गर्म-गर्म और लाल-लाल
लाल-लाल और गर्म-गर्म
मेरा खून है !
तूफान जैसा मैं जवान, मेरा जनून भी तूफान जैसा,
मैंने कश्मीर पर फ़िदा होना है,
प्राणों की बलि देनी है ।

वर्तमान कवियों में नादिम से सशक्त और क्रान्तिकारी व्यक्तित्व रखने वाला अन्य कोई कवि नहीं । उसका उदय जिन परिस्थितियों में हुआ है, वे परिस्थितियाँ ही स्वतः ऐसे क्रान्तिकारी व्यक्ति के लिए उत्तरदायी हैं ।

नादिम ने अभी कश्मीरी कविता को बहुत कुछ देना है, अभी तो उसकी प्रतिभा उभर ही रही है । स्थानाभाव के कारण मैं अन्य कवियों—रहमान राही, कामिल, मस्त और स्वर्गीय आसी का परिचय नहीं दे सका हूँ । कश्मीरी साहित्य का नया युग अभी आरम्भ ही हुआ है । मेरा विश्वास है यदि नए कवि राजनैतिक उलझनों में न पड़ते हुए, लोगों की निजी भावनाओं को ही सामने रखकर काव्य-रचना करें तो उनका भविष्य अवश्य ही उज्ज्वल होगा ।

४

पतझड़ आ गया है और पाम्पुर के करेवों पर केसर फूल रही है। भीनी-भीनी महक मन में मस्ती ला रही है। धरती में से फूटते हुए कुँकुम, समकोण क्यारियों में बिखरे हुए ऐसे लगते हैं जैसे किसी परम सुन्दरी के केशों में बिखरे मोती। इनका न भूलने वाला दृश्य देखते ही चित्त में प्रफुल्लता आ जाती है। और जब सूर्य की अस्तकालीन रश्मियाँ प्रतीची का चुम्बन करती हैं, तो रंगीन किरणों की इन पुष्पों के साथ क्रीड़ा कितनी मनोहर लगती है। रजनी के शान्त वातावरण में पास ही देवदारु के वनों में से गुजरती शीतल पवन की सायँ-सायँ साफ सुनाई देती है। आकाश पर चन्द्रमा की अनुपम छटा और पाम्पुर के करेवे पर नव-तारक-से रजत की चादर में लिपटे हुए केसर के फूलों की आँख-मिचौनी कितनी मनभावन

लगती है। जहाँगीर ने यहीं पर कहा था 'अगर फिरदौस बर रोये जमीं अस्त...' स्वर्ग तो यहीं है, यहीं है।

केसर के फूलों को देख मेरा मन उल्लसित और साथ-ही-साथ उदास भी हो जाता है। उल्लास का कारण तो मैं कह चुका, उदासी इसलिए कि इस पुष्प को कीर्ति के सिंहासन से नीचे उतारा गया है। पूर्वकाल में यह फूल कश्मीर के हिन्दू शासकों के मुकुट की शोभा बढ़ाता था, राजकुमारियों के केशों को शोभायमान करता था। वे इसका वास लेती थीं, अंगों की कोमलता को बढ़ाने के लिए इसका रस निकालकर मलती थीं और मल्हम बनाकर दिल को ठंडक पहुँचाती थीं। राजे-महाराजे अपने शिरोभूषण केसरिए रंग में रंगवाते थे।

प्राचीन काल से जाफ़रान केवल कश्मीर में ही उगता आया है। संसार के कोने-कोने में इसकी माँग थी। इसका प्रयोग किन चीजों में होता था, मैं उनकी गिनती नहीं कर सकता। यह सुनकर मेरी सारी संज्ञा सिहर उठती है, कि नर-पिशाच नीरो का जब पहली बार रोम के शहर में प्रवेश हुआ था तो रास्ते को पहले केसर जल से ही पवित्र किया गया था। हिन्दू मन्दिरों को छोड़कर यूनान के मन्दिरों में भी इसे पवित्र माना जाता था। हेब्रिडीज़ प्रतिष्ठित व्यक्ति केसर में रंगी हुई कमीज ही तो पहनते थे। इसका प्रयोग फारस और स्पेन के लोग भोजन को सुरस बनाने के लिए करते थे। लेकिन अब इस सुकुमार और पवित्र पुष्प का प्रयोग केवल मन्दिरों में या कहीं-कहीं पाकशालाओं में ही होता है। लगता है इसकी सुगन्ध की अब किसी को रुचि ही नहीं। मैं यह तो नहीं कहता कि कश्मीर के इतिहास में इसका निर्गम हुआ है। लेकिन लगता है लोगों में सहृदयता लुप्त हो गई है और इस अनुपम चीज़ को भुलाया जा रहा है।

महाकवि कालीदास के जन्म-स्थान के बारे में काफी मतभेद है, लेकिन कई विद्वानों का मत है वह कश्मीरी ही थे। मैं इसे संकीर्ण दृष्टि से नहीं देखता हूँ, बल्कि कालीदास की अमर कृतियों में कहीं-कहीं केशर की खेती का इतना विस्तृत विवरण दिया गया है, जो किसी पर्यटन करने वाले के लिए असम्भव ही था। यह भी हो सकता है कि कालीदास, जिन्हें प्रकृति की छटा से बहुत प्रेम था, यहाँ आकर काफी देर रहे हों।

कवि तथा इतिहासकार कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में केसर के उद्गम के बारे में एक सुन्दर घटना का वर्णन किया है। ललितादित्य के शासनकाल में पदमपुर (वर्तमान पाम्पुर) में एक प्रसिद्ध चिकित्सक रहता था। एक रोज नागराज बीमार होकर चिकित्सा कराने के लिए चिकित्सक के पास गया। उसने बहुत कोशिश की लेकिन नाग को स्वस्थ न कर सका। चिकित्सक ने अचम्भे में पड़कर उत्सुकता से पूछा कि वह वास्तव में मनुष्य था कि नाग। रोगी ने अपना परिचय दिया तो चिकित्सक को पता चला कि नाग के मुँह से निकले हुए विषैले श्वास, उसकी दवाइयों को निष्फल कर

देते थे। भिषक ने नाग की आँखों पर पट्टी बाँध ली, जिससे वह स्वस्थ हो गया। कृतज्ञ होकर नाग ने चिकित्सक को एक केसर का कन्द दिया, जिसकी खेती करने से धीरे-धीरे पाम्पुर का नाम संसार में उज्ज्वल हुआ।

हिन्दू शासन काल में केसर की खेती से राज्य को बहुत लाभ होता था। लेकिन इसकी पैदावार में कमी होती गई। मुगल शासकों ने फिर से किसानों को केसर की उपज बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया। लेकिन पठानों का राज्य इसके लिए अवनति का समय रहा। डोगरा शासक रणबीरसिंह ने केसर के महत्त्व को पहचाना और किश्तवार से कुछ मूल पाम्पुर ले आया। क्षुधा से पीड़ित कश्मीरियों ने अशान्ति और अकाल के समय में केसर-कन्ध खाने के तौर पर इस्तेमाल किए थे।

कश्मीर में केसर की काश्त किश्तवार में भी होती है, लेकिन बहुत थोड़ी। इसलिए पाम्पुर का नाम ही इसकी खेती के लिहाज से प्रथम आता है। पाम्पुर में एक करेवे (ऊँची समतल भूमि) पर इसकी खेती होती है, क्योंकि इसके लिए एक विशेष प्रकार की पीली मिट्टी की जरूरत होती है जो केवल वहीं पर मिलती है। इसके लिए सिंचाई की जरूरत नहीं होती है, बल्कि ज़मीन को समकोण क्यारियों में बाँटा जाता है जिनके गिर्द पानी के निकास के लिए एक फुट तक गहरी नालियाँ खोदी जाती हैं। चार इंच गहरी मिट्टी में केसर के कन्द 'बल्ज' बोये जाते हैं। एक ही खेत पर ज्यादा-से-ज्यादा दस साल तक केसर की खेती होती है, उसके पश्चात् कम-से-कम आठ साल तक के लिए गेहूँ, जौ आदि बोये जाते हैं। दस वर्ष के समय में बल्बों की संख्या पहले से दुगनी हो जाती है। एक कन्द से तो एक ही बार फूल निकलते हैं, लेकिन सड़ जाने से पहले उसका जीवन एक और कन्द को प्रदान होता है। साल में तीन बार जमीन को खोदा जाता है और फालतू घास-पात निकाला जाता है। बोने का समय जुलाई का महीना है और फूल अक्टूबर में लगते हैं। फूल तो बिलकुल धरती के साथ ही लगते हैं और दूर से कुमुदिनी जैसे लगते हैं। पत्ते घास के जैसे होते हैं, लेकिन बहुत कम और छोटे। फूल नील-लोहित रंग के लगते हैं और अन्दर की पंखुड़ियाँ काली रक्तवर्ण होती हैं।

फूलों को पहले चुन लिया जाता है। अक्टूबर के महीने में हजारों नर-नारी, बूढ़े और बच्चे इसी काम में लग जाते हैं, हालांकि चुनने की मजदूरी बहुत थोड़ी होती है। चुनने के बाद फूलों को दो तरीकों से छाँटा जाता है। या तो पंखुड़ियों को अलग कर उन्हें सुखाया जाता है, जिसे 'मोगा' केसर कहते हैं। यह केसर की बिलकुल शुद्ध किस्म है। दूसरी रीति फूलों को सुखाकर उन्हें कूटने की है, जिन्हें पानी से भरी बाल्टियों में डाला जाता है। इसमें काम का पदार्थ ऊपर तैरता है, जिसे निकालकर सुखाया जाता है। फालतू चीज बाल्टी के अन्दर ही रहती है जिसे फिर पीटा जाता है और दुबारा पानी में डाला जाता है। इस प्रकार से प्राप्त किया हुआ जाफान घटिया किस्म का 'लछा' कहलाता है।

पिछले कई वर्षों से केसर की खेती बढ़ती आई है, लेकिन उपज में कुछ वृद्धि नहीं हो रही है। इसका कारण पुराने काश्तकारी के कानून हैं, जो अभी तक प्रचलित हैं।

कमल-पुष्प

केसर की तरह, कमलफूल भी कश्मीर की एक विशेषता है, क्योंकि कश्मीरी कमल इतनी बहुतायत में भारतवर्ष में कहीं और नहीं मिलते। कश्मीर में डल झील इनके लिए प्रसिद्ध है। गर्मी के मौसम में जब नौकाओं में बैठकर इस सरोवर की सैर की जाय तो किनारों पर विशाल कमल दल मुस्कराते हुए दीखते हैं। इनके गोल पत्तों पर पानी के छींटे मुक्ताओं की तरह धूप में चमकते हैं। अक्सर कश्मीरी कमल गुलाबी रंग के होते हैं; बीच-बीच में कहीं सुविख्यात सफेद 'वाटर लिली' भी मिल जाती है। कमल का फल कोण-सा होता है लेकिन गोल पेंदा ऊपर की तरफ और नोक नीचे की ओर होती है। उसमें हरे स्वादिष्ट बीज गाड़े होते हैं, जो बाहर से भी दिखाई देते हैं। कमल का पतला डंठल बड़ा होकर खाने के काम आता है। कश्मीरी इसे 'नदरू' कहते हैं और बड़े चाव से पकाकर खाते हैं, बाहर से आने वाले इसे कमल ककड़ी कहते हैं। इसे माँझी लोग नौकाओं में बैठकर, लकड़ी के डंडे से काटते हैं, जिसके सिरे पर एक गोल चाकू-सा लगा होता है।

कश्मीर की झीलों में सिंघाड़ा भी काफी मात्रा में मिलता है। इसमें सफेद फूल लगते हैं जो पानी के ऊपर दिखाई पड़ते हैं। जाड़ों में जब झीलों का पानी कम हो जाता है तो लोग नौकाओं में बैठकर सिंघाड़ों को इकट्ठा करते हैं। इन्हें सुखाकर कूटते हैं जिससे अन्दर की गिरी निकल आती है। वुलर झील के किनारे पर रहने वाले लोग सारा साल इसी पर निर्वाह करते हैं, जिससे साफ पता चलता है कि यह एक पोषक खुराक है। एक दिन में आधा सेर सिंघाड़े से उबालकर बनाया हुआ भोजन एक आदमी के लिए काफी है। सिंघाड़े का आहार करने वाली स्त्रियाँ काफी परिश्रमी पाई गई हैं।

तैरते खेत

कश्मीर में खेती करने का एक अजीब तरीका वहाँ के तैरते हुए खेतों पर आजमाया गया है। ये खेत एक से दूसरे स्थान को लिए जा सकते हैं। भारत में अन्य कहीं जहाँ झीलें हैं, इस तरीके को अपनाया नहीं गया है। घास तथा टहनियों की एक लम्बी-चौड़ी टट्टी जैसी बनाई जाती है जिसे पानी में डाल देते हैं। इसके ऊपर मिट्टी की पतली तह चढ़ाते हैं और उसके ऊपर वैसी ही एक और टट्टी रख देते हैं। इस तरह दो टट्टियों का बना हुआ 'खेत' पानी पर तैरने लगता है। इस छोटे से खेत पर मिट्टी की एक और तह जमा देते हैं। यह तैरता हुआ खेत इतना मजबूत बनता है कि तीन-चार आदमी इसके ऊपर बैठ सकते हैं।

इन खेतों को लकड़ी के लम्बे डंडे से बाँध दिया जाता है, जिसे झील में गाड़ देते हैं। वसन्तकाल में इन खेतों के ऊपर मिट्टी और झील में ही उगती हुई घास के 'कोण' जैसे बनाए जाते हैं, जिनमें खरबूजे, तरबूज आदि के बीज बोये जाते हैं। कुछ महीनों में उन पर स्वादिष्ट फल लगते हैं।

कश्मीर से बाहर कहीं अगर कहा जाय कि किसी के खेत चोरी हो गए, तो लोग हँस पड़ेंगे। लेकिन कश्मीर में ऐसा होना सम्भव है। इन खेतों को अगर दूसरे स्थान पर ले जाना हो, तो पहले रस्सी को काट देते हैं, जिससे वे बन्धन-मुक्त हो जाते हैं, और फिर खेत पर बैठकर उन्हें नाव की तरह पतवाल से खेकर ले जाते हैं।

नीलम

नीलम कोई फूल नहीं, किन्तु इसका वर्णन करना इसलिए उचित समझता हूँ कि यह कश्मीर की ही एक विशेष चीज है। अगर केसर और कमल के फूल किसी सुन्दरी के अलंकार हैं तो नीलम उसका आभूषण। कितनी महिलाएँ अँगूठियों, हारों या अन्य जेवर में नीलम डलवाना पसन्द करती हैं, यह कहना सम्भव नहीं क्योंकि उनकी संख्या बहुत ही अधिक है।

१८८१ ई० में जंस्कार जिले के पाड़र इलाके में सुमजम नामक गाँव में १४,८०० फीट की ऊँचाई पर नीलम की खान का पता चला था। खोदकर काफी नीले रंग के पत्थर निकाले गए। हालांकि बहुत से कपटी व्यापारियों के हाथ में यह काम आ गया था, फिर भी कश्मीर सरकार को इससे काफी धनराशि मिलती थी। इन व्यक्तियों ने गलत तरीके से खुदाई कर इस खान का संहार ही कर दिया था। १९२७ ई० में इसका एक 'सर्वे' हुआ, जिससे पता चला कि नीलम केवल सुमजम में ही नहीं बल्कि पाड़र में अन्य स्थानों पर भी मिल सकता है। लेकिन अब सुमजम खान की खुदाई का काम लाभदायक नहीं रहा है। हो सकता है किसी समय इस पहाड़ी इलाके की भूमि सरककर नीचे गिर जाय, और अन्दर छुपे हुए बहुमूल्य पत्थर फिर से निकल आयें।

'का ! का !' पत्थर

यह पत्थर न तो कीमत है और न आभूषण बनाने के काम आता है। श्रीनगर से अनन्तनाग जाने वाली सड़क पर तीसवें मील पर बिजबिहारा नगर के एक छोटे मन्दिर के उद्यान में एक गोलाकर डेढ़ मन का पत्थर पड़ा है। इसकी कोई विशेषता नहीं, लेकिन एक दिलचस्प बात इससे सम्बन्धित है। पत्थर के गिर्द यदि गोलाकार में ग्यारह आदमी खड़े हो जायें, और उनमें से हर एक अपने दाहिने हाथ की तर्जनी उसको लगाकर 'का ! का !' चिल्लाए तो यह पत्थर एकदम ऊपर उठ आता है। ग्यारह से अगर ज्यादा आदमी हों, या कम, वह पत्थर उठने का नाम नहीं लेता, ऐसा मेरा अपना अनुभव है।

संगीत और नृत्यकला

कश्मीर की संगीत-कला का प्रादुर्भाव वहाँ की ऐतिहासिक परम्परा के प्रभाव और अनेक विषयों के विचित्र सम्मिश्रण से हुआ है । इस पहलू में भी कश्मीरियों को विदेशी कला के तत्वों का समीकरण करना पड़ा, जिसके परिणाम में वहाँ की संगीत कला शास्त्रीय नियमों से परे हट गई । उस संगीत का शुद्ध रूप 'सूफियाना कलाम', अंकन अथवा चिन्ह-पद्धति के अभाव के कारण कभी लिखा नहीं जा सका । इसलिए इसका स्वरूप वंशानु-क्रम से आया हुआ ही हमें मिलता है, जो अनेक गायकों की दया दृष्टि पर ही अपने अति जीवन के लिए आश्रित रहा है । किन्तु फिर भी इसके कुछ विशिष्ट गुण मिट जाने से बच पाए हैं, इसलिए इसका गहरा अध्ययन करने की आवश्यकता है।

महाकवि कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में निर्देश किया है कि जलौक महाराज के दरबार में बहुत संगीतज्ञों को आश्रय मिलता था । अनेक शुद्ध पुरातनों के अध्ययन से पता चलता है कि कश्मीर की संगीत-कला ईसवी सन् से २०० वर्ष पुरानी है । ललितादित्य, जो जलौक से एक हजार वर्ष बाद कश्मीर पर राज्य करता था, के बारे में प्रसिद्ध है कि उनके राजदरबार में उस समय की सर्वश्रेष्ठ नर्तकी इन्द्रप्रभा रहती थी । जयदेव तथा हर्षदेव, जो ललितादित्य के बाद राज्य के उत्तराधिकारी बने, ने इस कला को केवल फलते-फूलते ही नहीं देखा, बल्कि स्वयं भी संगीत-शास्त्री बने ।

मुसलमानों के राज्यकाल में भी संगीत-कला को काफी प्रोत्साहन मिला, किन्तु साथ-ही-साथ वह विदेशी गायकों के आने से अरब, ईरान, समरकन्द आदि देशों से प्रभावित हुई। जैनुलाबदी 'बड़शाह' जिसने कश्मीर की बिगड़ी हुई दशा को कुछ हद तक सुधारा, स्वयं भी एक अच्छा गायक था। उसके राज्यकाल में प्रति वर्ष एक बड़ा संगीत समारोह कश्मीर में होता था जिसमें विदेश तथा पंजाब और दिल्ली से संगीतकार सम्मिलित होते थे। जनश्रुति है ऐसे ही एक गानोत्सव पर जैनुलाबदीन को एक गायक ने संगीत-शास्त्र सम्बन्धी 'संगीत चूड़ामणि' की भेंट की थी। इसी के राज्यकाल में 'सन्तूर' वाद्य-यन्त्र प्रचलित हुआ।

बड़शाह के पश्चात् हसनशाह कश्मीर का शासक हुआ। उसके बारे में कहा जाता है कि उसकी राज्य-सभा में १००० से अधिक संगीतकार आश्रय पाते थे। यह भी सुनने में आता है कि उसने छः प्रतिष्ठित करनाटक संगीत ज्ञाताओं को बुलाकर भारतीय संगीत-कला के रागों को कश्मीर में लोकप्रिय बनाया। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सुलतान हसनशाह ने कश्मीर की संगीत-कला को चार चाँद लगा दिए। उसके राज्यकाल में इस संगीत के अनेक रूप क्रमबद्ध हुए और इस पर कई पुस्तकें लिखी गईं। दुर्भाग्यवश इन पुस्तकों में से एक भी इस समय उपलब्ध नहीं है। किन्तु उस समय के संगीत-शास्त्री सोमभट्ट, श्रीधर भट्ट, मुल्लाअहमद, अबदुलकादिर, मुल्लाजमील, भालोल, अरनीमाल और अयोध्याभट्ट आदि अब भी लोगों को याद हैं।

चक वंश का राज्यकाल कश्मीर में १५७८ ई० में स्थापित हुआ। यूसुफशाह चक के बारे में कहा जाता है कि उसे कश्मीरी संगीत बहुत प्रिय था। कश्मीर की सुप्रसिद्ध रानी, कवियत्री तथा गायिका हब्बाखातून का नाम यूसुफशाह के साथ सम्बन्धित है। चक वंश के पतन के साथ ही इस कला की अवनति हुई और राजदरबार में अपने स्थान से वंचित हुई। वह समय कश्मीरी जनता के लिए संकट का समय था। वे स्वतन्त्र तो थे नहीं, किन्तु उनकी दशा को सुधारने के लिए जो हिन्दू शासकों तथा जैनुलाबदीन ने कुछ काम किये थे, वे स्थगित कर दिए गए। पठान और अन्य शासकों ने कश्मीरियों का खून बहाया और उनकी कला और संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उस विनाश काल में भी कई गायकों ने इस कला की परम्परा को जारी रखा। वही समय था जब गान वेदना अथवा करुणा से प्रभावित हुए और अपने शास्त्रीय रूप से परे हट गए। तब इसका रूप लोक संगीत का-सा हो गया। किन्तु ऐसी विपरीत परिस्थितियों के होते हुए भी यह कला रस, यमक, अनुप्रास, ध्वनि-साम्य और कुछ हद तक मर्यादा से अलग नहीं हुई। इसमें सादापन है, जिस कारण यह दिल पर सीधा असर करती है।

'छकरी' ही कश्मीरी संगीत का जनप्रिय रूप है, जिसमें अबोध स्त्रियों का मनोराग आभासित होता है। छकरी संगीत में स्त्री ही सस्वर प्रेमिका का अभिनय करती है। यह भी फ़ारसी प्रभाव से बच नहीं पाई है। सुन्दर ध्वनि-साम्य के कारण

अनेक प्रकार के गीतों को जनसमुदाय तक पहुँचाने के लिए छकरी को वाहन बनना पड़ा। प्रेम प्रलाप के अतिरिक्त भक्ति के गाने भी गाये जाने लगे। छकरी की विशेषता है कि गीत छोटे होते हैं और भावपूर्ण, जितना ही साधारण छकरी का रूप है, उतने ही साधारण उसके वाद्य-यन्त्र हैं। मटका और तुम्बकनारी (मिट्टी की ढोलक जैसी) ही केवल इसके साज हैं। घड़े और छकरी का सम्बन्ध तो पुराना दीखता है क्योंकि राजतरंगिनी में भी कश्मीरी लोगों द्वारा कलश बजाने का उल्लेख मिलता है। जितना तबला भारतीय संगीत के लिए आवश्यक है, उतना ही मटका कश्मीरी संगीत के लिए, क्योंकि दोनों का सम्बन्ध ताल से है।

तुम्बकनारी एक पेंदे के बिना मिट्टी की सुराही जैसी है, जिसका गला लम्बा होता है। पेंदे पर गोंद से साफ़ किया हुआ बकरे का चमड़ा चढ़ा देते हैं। बजाने पर ढोलक जैसा स्वर होता है। मध्य ऐशियाई देशों में तुम्बकनारी जैसा एक यन्त्र तुम्बक बजाया जाता है, किन्तु वह कश्मीरी यन्त्र से अच्छा है। चमड़ा पेंदे के ऊपर चिपकाने के बजाय उसे लकड़ी के एक चौखटे के ऊपर लगा देते हैं, जिससे स्वर को कम-ज्यादा किया जा सकता है। श्री मोहनलाल ऐमा ने इस बारे में काफ़ी खोज की है और उनका मत है कि यदि सुराही के बदले साफ़ किए हुए सूखे कद्दू पर चमड़ा मढ़ा जाय तो ज्यादा मधुर स्वर होता है।

छकरी में सारंगी-सारंग यन्त्र का भी प्रयोग होता है, जो सारंगी का ही एक छोटा स्वरूप है, किन्तु इसके स्वर सीमित हैं। इसके स्वरों को विस्तृत भी किया जा सकता है, इसकी दो तारों—बुम और जिला—को कसने और ढीला करने से। रबाब कश्मीर में ४०० वर्ष पूर्व मुगलों के शासनकाल में अफ़गानिस्तान से आया और कश्मीरी संगीत का एक आवश्यक अंग बन गया। यह सरोद जैसा ही यन्त्र है, किन्तु इसका स्वर मधुर नहीं है।

एक और यन्त्र 'सन्तूर' का प्रयोग कश्मीरी शास्त्रीय संगीत सूफ़ियाना कलाम में ही होता है। सूफ़ियाना कलाम अक्सर फ़ारसी में गाया जाता है, इस पर रहस्यवाद की गहरी छाप है। ईरान में इस समय 'कानून' वाद्य-यन्त्र का प्रयोग होता है जो शततन्त्री वीणा का ही एक रूप है। कानून से ही सन्तूर का जन्म हुआ। वैदिक काल में भी भारतवर्ष में बहुत वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग होता था, उनमें एक-सौ तार वाली वीणा भी थी। 'सन्तूर' का नाम भी फ़ारसी 'सन' से लिया है, इसका मतलब है सौ, और 'तूर' के माने तार होते हैं। इससे पता चलता है कि यह यन्त्र बहुत पुराना है।
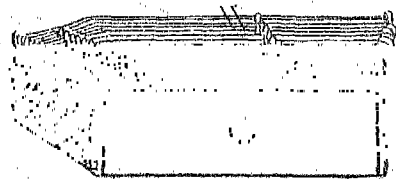
सन्तूर

पठान शासनकाल में युवकों को स्त्रियों के कपड़े पहनाकर उन्हें नाच नचाने का रिवाज था, जिसके साथ छकरी की संगत होती थी। संगीत के बीच 'विराम' को 'जवाब' कहते हैं, और इतने से समय में 'बच्चा' नाचकर दर्शकों का मनोविनोद करता था। किन्तु अब लड़कों को स्त्रियों का वेश धारण कराने की प्रथा कम हो रही है।

नृत्यकला को संगीत से पृथक् नहीं किया जा सकता है। हिन्दू शासकों का राज्यकाल नृत्य के लिए प्रगति का समय रहा है। जैनुलाबदीन आदि मुसलमान शासकों ने इसको प्रोत्साहित किया, किन्तु यह ईरानी नृत्यकला से प्रभावित होने से न बच पाई। ललितादित्य के राजदरबार में इन्द्रप्रभा नर्तकी का वर्णन पहले किया जा चुका है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जैनुलाबदीन को जो 'संगीत चूड़ामणि' की भेंट की गई थी, वह नर्तकियों के लिए पथ-प्रदर्शक प्रमाणित हुई। औरंगजेब के समय में कश्मीर के गवर्नर फैज़ख़ाँ ने मीर जफरअल्लाह से 'राग-दर्पण' नामक पुस्तक का अनुवाद कराया जो नृत्यकला के ऊपर एक प्रमाणित ग्रन्थ माना जाता है।
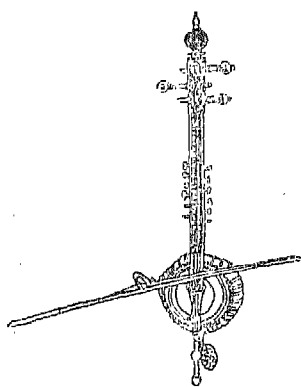
साजे कश्मीर

अकसर सूफ़ियाना-कलाम के साथ शास्त्रीय-संगीत की संगत होती थी। नर्तकी को 'हाफिजा' कहते थे और वह अपने कला कौशल में प्रवीण होती थी। सुर और ताल के साथ उसके पग उठते थे, और गीत का मतलब वह अपनी मुद्राओं द्वारा समझाती थी। दर्शक के लिए यह जरूरी नहीं था कि उसे संगीत-शास्त्र का ज्ञान हो, वरन् यह कला जीवित ही कैसे रह सकती थी। डोगरा शासक हरीसिंह के राज्यकाल में जब वैश्याओं के हटाने का प्रचार हुआ, तो सबसे पहले हाफ़िजा का ही अस्तित्व मिट गया। और उसके साथ-साथ नृत्यकला के इस रूप का भी उन्मूलन हुआ।

इसलिए वर्तमान नृत्यकला का लोक-स्वरूप ही बच पाया है। वह भी छकरी की लोकप्रियता पर आधारित है। निःसन्देह कश्मीर में लोकनृत्य उतना पनप नहीं पाया जितना उड़ीसा, बंगाल, कर्नाटक अथवा उत्तर प्रदेश में। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि कश्मीरी महिलाओं ने नर्तकी के पेशे को अपनाना छोड़ दिया है, क्योंकि वे गृहस्थ-जीवन ज्यादा प्रिय समझती हैं। यहाँ तक कि उत्सव पर भी जो नाच-गाना होता है, उसमें पेशावर नर्तक ही अधिक भाग लेते हैं। हाँ, संगीत उनके जीवन का एक आवश्यक तत्व ही बन गया है। छकरी संगीत की लोक-प्रियता के कारण ही अनेक कवियों को अपनी रचनाएँ इसके ध्वनि-साम्य के अनुकूल ही लिखनी पड़ीं। जिन कवियों की कविताओं में यह विशेष तान

थी, उनका नाम शायद ही किसी कश्मीरी को याद होगा। महजूर, हब्बाखातून, आज़ाद तथा अन्य लोकप्रिय कवियों ने छकरी का ही आश्रय लेकर कश्मीरियों के हृदय में अपना स्थान बना लिया।

'बाँडजश्न' एक सामूहिक नृत्य है, जो बहुत पुराना है। इसका उद्‌गम वाहथोर नामक गाँव में हुआ था। शहनाई, ढोल तथा 'नगारा' (ढोलक-जैसा यन्त्र जिसे लकड़ी के दो टुकड़ों से बजाया जाता है) साज ही इसमें काम आते हैं। बाँड लोग बड़े जनसमुदाय के सामने 'साँग' रचाते हैं और रात भर नाचते और गाते रहते हैं। बाँडजश्न में भाग लेने वाले अकसर किसान लोग होते हैं, जिनके मनोविनोद का साधन नाचना-गाना ही है। 'लड़ीशाह' घर-घर फिरता है और लोक-गीतों की गोष्ठी चावल या पैसे के बदले में सुना देता है। यह भी कोई पेशा नहीं। लड़ीशाह समय के उतार-चढ़ाव को देखकर सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक समस्याओं को अपने गीतों में प्रस्तुत करता है, केवल लोगों का दिल बहलाने के लिए। भाषा उसकी सरल और चटपटी है, जैसे—

हवाई जहाज आव मुल्कि कश्मीर,
यिमव वुछ तिमव कोर लोबा तक्सीर।

"हवाई जहाज कश्मीर आया, जिन्होंने देखा उन्हें आश्चर्य हुआ।"

गोजर संगीत में केवल बंसुरी का ही प्रयोग होता है। ऊँची-ऊँची उपत्यकाओं में, जहाँ हवा की साँय-साँय के बगैर कुछ सुनाई नहीं देता, वंशी को ले पहाड़ी गोजर अपनी दिन भर की थकान दूर करते हैं। संगीत इनकी नस-नस में समा गया है। खास तौर से 'कंची' और 'बैरा' रूप इन लोगों को बहुत प्रिय है।

संगीत अथवा नृत्यकला के अन्य रूप 'तम्बूर नग़मा' (रबाब पर सामूहिक गाना) 'वनवुन' और 'रोफ' के बारे में कहना भी जरूरी है। हालांकि तम्बूर नग़मा अब जनप्रिय नहीं रहा, वनवुन और रोफ कश्मीरियों की जिन्दगी के आवश्यक अंग हैं। ऐसा लगता है कि वनवुन की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है और इसके असली रूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। उदाहरण के तौर पर—

अदिथे ओवुय खानय मोलुय
नेरिसी रोनि मंजोलुय ह्यथ,
सोन सिज़ि सदरे रोप सिज़ि कछवच्चि
यहै छुई मोगुल बच्चि बार बनिवलोस।

"दादी तुम्हारा लाड़ला आया है। घुंघरू लगे हुए हिंडोले को लेकर जा और इसका स्वागत कर। इसके गले के कुर्ते की चांदी की आस्तीन है, यह तो मुगलों का बच्चा-सा लगता है; इसके स्वागत में तू दिल खोलकर गा ले।"

अतिनस कुस छुस खावर रटि थी,
हीमाल खटि थी खआरिज्यन।
हलमन्य कुलफन करिवहस हरकल,
बरकत वाचिवह् बर मुचरान।
हेरि खस पनन्ये कुठि ब्यह् वारे,
युथनै सोनह तारे लभि लगनै।
जिगरे थोद तुल बुमह् कमानै,
डाय सास लुख है गय दीवानै।
वअरिव वाचख क्यहुय छयक निन्दरे,
सोंदरे सोरमय अछि मुचराव।

"पर्दे के पीछे कौन खड़ा है? देखना, डोली में हीमाल है, उसे चुपके-चुपके ऊपर चढ़ा लेना। सन्दूकों के मोटे-मोटे ताले खोलो और देखो लक्ष्मी तुम्हारे घर आई है। दुल्हन! जा स्वयं ऊपर जाकर अपने कमरे में बैठ ताकि तेरे आभूषण खराब न हो जायँ। अपनी धनुष जैसी भौंहें ऊँची उठा, हज़ारों लोग तुम्हारे लिए दीवाने हो रहे हैं। तेरा ससुराल आ गया, सोई हुई हो क्या, अपनी आँखें खोल।"

हिन्दुओं का वनवुन उनके यज्ञोपवीत संस्कार का एक लाजिमी हिस्सा है। जितनी ही पुरानी विवाह रचाने की रीति है, उतने ही पुराने यह गान भी हैं।

रोफ नृत्य कश्मीरी मुसलमान महिलाओं को अत्यन्त प्रिय है। मेरे विचार में कश्मीर का सुन्दरतम सामूहिक नृत्य यही है। व्याह के अवसर पर या ईद या रमजान के महीने में अकसर औरतें गाती हुई दिखाई पड़ती हैं। बाहों में बाहें डालकर स्त्रियाँ दो पंक्तियों में आमने-सामने खड़ी हो जाती हैं और क्रमानुसार आगे और पीछे पग हिलाती हुई गाती हैं—

मदनी मदनस कोठ है लूस बदनी,
मदनी घर फिन कदमा आव।

"दुल्हन, तुम्हारा दुल्हा तो थक गया इन्तजार करते, अब घर से बाहर आ"। या—

वलै रोफ है कर वय,
नबी सेबस तर वय।

"आओ-रीफ़-नृत्य करें। चलो नबी की दरगाह में जायें।" एक और उदाहरण—

ईद आयि रस रस,
ईदगाह् वसवै, इदगाह् वसवै।
ईद आई सौरान,
कोनै छुव नेरान कोनै छुव नेरान।

'सखी, ईद धीरे-धीरे आ गई । चलो ईदगाह चलें । अब ईद के दिन समाप्त हो रहे हैं, आओ घर से निकल चलो ।"

कश्मीर में संगीत तथा नृत्यकला प्राचीन काल से फलते-फूलते आए हैं। अपने लम्बे जीवन में इन कलाओं ने गौरव-काल को देखा है, और अवनति भी। आशा है अब इनकी उन्नति के दिन ही आयेंगे ।

लद्दाखी नृत्य

लद्दाखी होकर नृत्य न जानना अनहोनी-सी बात है। बौद्ध-भूमि के छोटे-छोटे बच्चे भी नाचने की कला में निपुण हैं । लद्दाखी नाच सीखने में पुरुष और स्त्री का कोई भेद नहीं, वह तो उन लोगों के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का एक आवश्यक अंग बनकर रह गया है । कोई त्यौहार तब तक पूरा नहीं माना जाता जब तक उसमें नृत्य का कार्यक्रम न हो । कश्मीर में ब्याह-शादी के अवसर पर कुशल नर्तकों को बुलाया जाता है, किन्तु लद्दाख में अलग ही प्रथा चल पड़ी है । विवाह के अवसर पर दुल्हा और दुल्हन सिर पर सफ़ेद रूमाल बाँधकर स्वयं भी नाचते हैं, और अन्य लोग उनके साथ-साथ । जब किसी के घर बच्चे का जन्म होता है तो उसके सगे-सम्बन्धी और पड़ौस के लोग एकत्रित हो जाते हैं और 'छंग शराब' और 'गुड़गुड़' चाय के नशे में सभी मस्त होकर नाचते हैं ।

लद्दाखी नाच का एक और पहलू भी है । हालांकि नृत्य जीवन का एक आवश्यक तत्व तो माना गया है, लेकिन जो इसे अपना पेशा बनाएँ उनको घृणा की दृष्टि से देखा जाता है । नर्तकों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं हो सकता है । लेकिन ऐसा होते हुए भी, वे लोग यह ठीक तरह समझते हैं कि नर्तकों के बिना उनका दरिद्र जीवन नीरस हो जायेगा ।

लद्दाखी नृत्य का आरम्भ नाचने वालों के अभिवादन से होता है । धीमी-धीमी लय के साथ नर्तकों के पाँव उठते हैं और ढोल और शहनाई की मधुर और सुरीली तान के संग वे गाते भी जाते हैं । जब ढोल जोर-जोर से बजता है तो वह संगीत की लहरों पर तेजी से थिरक उठते हैं । अन्त में फिर अभिवादन कर नृत्य समाप्त करते हैं । यह लद्दाखी नृत्य का पुराना स्वरूप है ।

यहाँ का 'पिशाचानृत्य' तिब्बत के इसी नाम के नाच से काफी मिलता-जुलता है । इस नृत्य की विशेषता है कि इसे केवल लामा लोग ही नाच सकते हैं । वे सुन्दर वेश-भूषा पहनकर डरावने मुखावरण डाल, हाथ में नंगी तलवारें लिए नाचते हैं । किसी का नकाब बारासिंगा से मिलता है तो किसी का गाय से । कोई सिंह की सूरत से प्यार करता है तो कोई काल्पनिक राक्षस की मुखाकृति से । मुंह पर भाँति-भाँति के आवरण डालकर सामूहिक नृत्य करने वाले लामा लोग गोलाकार में खड़े हो जाते हैं । सबसे ऊंचा स्थान बड़े लामा को देते हैं, अन्य लामा वाद्य-यन्त्र लेकर पास ही बैठ

जाते हैं। इनका एक यन्त्र 'ढुंग ढुंग' ढोल जैसा होता है, जिसे दस्ते से पकड़कर मदारी की डुगडुगी की तरह बजाया जाता है। लामा एक हाथ में ढुंग-ढुंग और दूसरे हाथ में छड़ी लेकर खड़ा हो जाता है।

दूसरा यन्त्र 'छम छम' है जो दो थालियों से बनता है। इसे बजाने से छमछम ध्वनि होती है। तीसरा यन्त्र 'नमवाय' है जो शहनाई का ही एक रूप है लेकिन इसकी लम्बाई दो गज से भी अधिक होती है। इसकी ध्वनि दूर-दूर तक सुनाई पड़ती है और इसे चलते-चलते भी बजाया जाता है। 'क्यापंग' शहनाई का छोटा स्वरूप है, जिसकी आवाज़ रसीली होती है। 'स्कालंग' यन्त्र ब्यूगल से मिलता-जुलता है और स्वर भी वैसा ही होता है। इसका प्रयोग खास अवसरों पर ही किया जाता है। शंख का प्रयोग भी संगीत में होता है।

अन्य लद्दाखियों की तरह लामा लोग भी संगीत और नृत्यकला सीखते हैं। लद्दाखी-नाच भी अन्य देशों से प्रभावित हुआ है, किन्तु लद्दाख-निवासियों की विशेषता है कि वह अपने उत्सवों पर कश्मीरी, गिलगिती और तिब्बती नाच भी नाचते हैं।

पिशाच-नृत्य अथवा 'डेविल डान्स' में नकाब लगाने की प्रथा पूर्वकाल से प्रचलित है। एक परम्परागत कहानी के अनुसार पुरातन समय में एक लद्दाखी के घर बच्चा हुआ, जिसका समाचार गाँव के लामा को सुनाया गया। लामा चौंक पड़ा, और बोला कि उस समय जिस शिशु का जन्म हुआ था वह राक्षस होगा, इसलिए उसकी हत्या करनी चाहिए। कुछ देर बाद समाचार मिला कि प्रसूता मर गई। लामा ने कहा कि बच्चे को भी माँ के मृत शरीर के साथ दफ़नाना चाहिए। लामा के आदेश का पालन किया गया। बाद में पता चला कि बच्चा माँ के मृत शरीर को खा बैठा था, और कब्रिस्तान में अन्य लाशें खोदकर उन्हें अपना आहार बना रहा है। उनकी अस्थियों की माला बनाकर गले में पहन ली और आस-पास की बस्तियों पर धावा बोल दिया और लोगों को चीर-फाड़ कर खाने लगा। लोग डरकर लामा के पास गए, जिसने राक्षस का वध किया। तत्पश्चात् वह प्रसन्न हो नकाब लगाकर नाचने लगा ताकि अन्य राक्षसों या हानिकारक पशुओं पर उसे विजय प्राप्त हो सके।

आजकल भी लामा लोग मुखावरण का प्रयोग अपने को अनेक प्रकार के संकटों से बचाने के लिए करते हैं।

डोगरी नृत्य

जम्मू का सबसे लोक-प्रिय नृत्य 'कुड़' है जिसे अकसर पहाड़ी इलाके के लोग रात के समय नाचते हैं। भदरवाह जिले के 'कुड़' नर्तक इस कला में प्रवीण माने जाते हैं। वास्तव में उनका नाच देखने और उनके गीत सुनने में आनन्द आता है। हालांकि डोगरा लोग भांगड़ा और दांद्रा नाच भी नाचते हैं, लेकिन 'कुड़' नृत्य ही जम्मू की

निजी नृत्यकला का असली स्वरूप है। 'भांगड़ा' पंजाब में नाचते हैं इसलिए वह अन्य देशों से प्रभावित हुआ है, जैसे दांद्रा हिमाचली नृत्य से।

'कुड़' नृत्य ब्याह-शादी के अवसर पर और अन्य उत्सवों पर नाचा जाता है। स्त्रियाँ और पुरुष गोलाकार बनाकर खड़े हो जाते हैं। पुरुषों के हाथ में नंगी तलवारें और स्त्रियाँ रेशमी रुमालें लिए खड़ी हो जाती हैं। वंशी की तान के छिड़ते ही ढोल बज उठता है और युवकों के पग गीत की तान पर थिरकने लगते हैं और उनके साथ-साथ स्त्रियों के। एक सुन्दर वातावरण की सृष्टि हो जाती है—

मेरी जी जाँ सुन्दरीए, तेरे नैन बिलोरी ओ,
मेरी जी जाँ सुन्दरीए, मेरा दिल लिया चोरी ओ।

पहाड़ों पर जहाँ जलाने की लकड़ी की कोई कमी नहीं, प्रायः यह नृत्य बड़े अलावों के गिर्द नाचा जाता है, जिससे इसमें अधिक जोश आ जाता है। इसके साथ केवल वंशी की संगत होती है। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर रहने वाले ये डोगरा लोग वंशी बजाने में बहुत प्रवीण हैं। यह नृत्य जुलाई, अगस्त और सितम्बर के महीनों में ही नाचा जाता है, जब खेती पक गई होती है और कृषक की खुशी की कोई सीमा नहीं होती।

बहुत दिनों के बाद साजन घर आए हैं। शाम है, और प्रेयसी उसे रात को ठहरने को कहती है। उसके साजन को बहुत दूर जाना है, इसलिए वह राजी नहीं होता, किन्तु प्रेमिका उसे तरह-तरह के प्रलोभन देती है। यह भी कुड़-नृत्य की ही एक तान है—

अजे दियाँ राते रवो मेरे गिद्दिया, रवो मेरे गिद्दिया,
अजे दियां राते रवो।
छुल्लु भी दिनी आँ, बकरू भी दिनी आँ,
तड़के भी दिनी आँ घ्यो।
साबन भी दिनी आँ, तेल भी दिनी आँ,
साड़ी बोली बबर नो।
साड़ी आबाड़ी असरिग जो पोन्दा,
खल्ली आगी लगदा ई भौ।

"साजन! रात मेरे पास ठहरो। मैं तुम्हें मेमना और बकरी का बच्चा दूँगी। खाना पकाने के लिए घी भी दूँगी, नहाने के लिए साबुन और तेल दूँगी। तुम हमारे ही चश्मे पर नहा लो। हमारे देश में रात को शेर आता है, मुझे अकेली डर लगता है। इसलिए तुम ठहर जाओ। मैं तुम्हें आटा-चावल भी दूँगी, तुम बाहर आँगन में ही खाना पका लेना।"

भांगड़ा डोगरों का ओजपूर्ण नृत्य है और पंजाबी भांगड़े से मिलता-जुलता है। मुझे लगता है कि यह भारत के लोक-नृत्यों में सबसे सरल है, क्योंकि इसमें दर्शक भी भाग ले सकते हैं। फसल काटकर खलिहान में रख ली जाय तो कृषक की खुशी का कोई ठिकाना नहीं। भांगड़ा नृत्य द्वारा ही वे अपनी खुशी को प्रकट कर सकते हैं। प्राय: नाचने वाले केवल लंगोट में ही दिखाई पड़ते हैं और शरीर के हर भाग को हिलाते हैं। लेकिन अब वे सुन्दर रंगबिरंगा वेश भी धारण करते हैं।

इसका नियम है कि गोलाकार में नर्तक खड़े होकर ढोल के शब्द पर मुँह से अनेक हर्ष-सूचक शब्द करते हुए नाचते हैं। श्रेष्ठ नर्तक के कहने पर अपना स्थान बदलते हुए नाचते ही जाते हैं। गोलाकार के बीच एक युवक स्त्री का वेश धारण कर नाचता है और उसके पीछे-पीछे गँवार-सा वेश पहने एक और नर्तक चलता है। इन दोनों का काम केवल लोगों को हँसाना है। दर्शक भी ताली बजा-बजाकर नृत्य की संगत करते हैं। भाँगड़ा पुरुषों का ही नाच है, क्योंकि इसके लिए शरीर के प्रत्येक अवयव को स्फूर्तिपूर्ण गति करनी पड़ती है, जो स्त्रियों के बस का काम नहीं है।

'दाँद्रा' नृत्य लोहड़ी के उत्सव पर ही नाचा जाता है। एक नृत्य करते मोर की प्रतिमा बाँस और रंग-बिरंगे कागज से बनाई जाती है, जिसके ऊपर तिले और सेम की झालर बुनी जाती है। ऐसे ही छज्जों को हाथ में लेकर लोहड़ी के उत्सव पर नर्तकों की मण्डलियाँ गाँव-गाँव में नाचती फिरती हैं।

'रास' नाच काशी के रास से काफी मिलता-जुलता है, लेकिन भिन्नता दोनों में इतनी है कि काशी का रास भक्ति-भावना से पूर्ण होता है। किन्तु डोगरा रास अब फिल्मी गीतों का ही आश्रय लेने लगा है। युवक स्त्रियों का वेश धारण कर नाचते और गाते हैं। गाँव में कहीं-कहीं रासमण्डलियाँ मिलती हैं जो इस नृत्य के भक्ति-स्वरूप को जीवित रखे हैं।
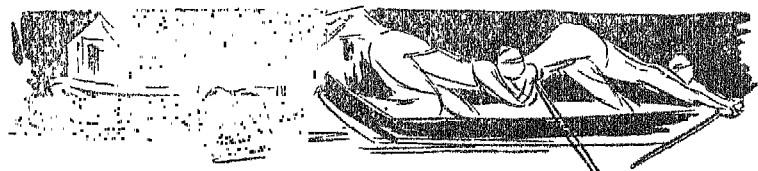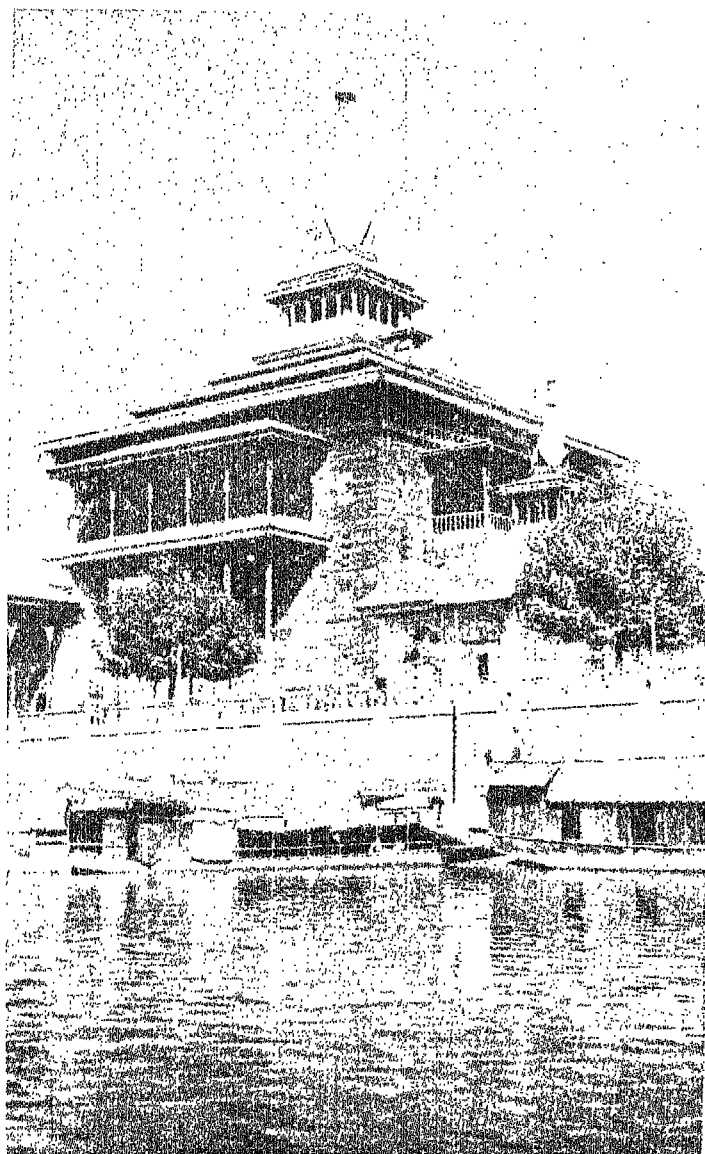
४. प्राचीन स्मारक-चिन्ह शाह-हमदान मसजिद

६

कश्मीरी

कश्मीर का मूल इतिहास एकदम लुप्त हो गया है। मेरे एक मित्र आग्रह करते हैं कि कश्मीर के लोग यहूदी जाति से ही सम्बन्धित हैं। इतना ही नहीं, उन्हें पूर्ण विश्वास है कि इजराईल का एक खोया हुआ कबीला कश्मीर आकर ही बस गया था, और अपने सिद्धान्त की पुष्टि में कहते हैं कि कश्मीरियों की लम्बी और पतली नाक, उनकी मुखाकृति आदि बिल्कुल यहूदियों से मिलती-जुलती है। जहाँ तक कश्मीरियों के उद्गम के बारे में पूरी खोज नहीं की जाती, मैं अपने मित्र की धारणा का विरोध नहीं कर सकता। किन्तु इतना कह सकता हूँ कि विश्लेषण करने से पहले किसी नतीजे पर पहुँचना कुछ जँचता नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि कश्मीरियों का रूप-रंग सुन्दर है, और खासकर महिलाएँ रमणीय हैं। लेकिन उनकी तुलना अन्य 'गोरी' जातियों से भी की जा सकती है, केवल यहूदियों से ही नहीं। मैं अधिक कुछ न कहकर अलबेरूनी के लिखित वृत्तान्त का ही आश्रय लूँगा। 'कश्मीरी कभी-कभी विदेशी लोगों को अपने मुल्क में आने देते थे, खास तौर से यहूदियों को। लेकिन अब यह हाल है कि किसी अज्ञात हिन्दू को भी वहाँ बसने नहीं देते।' यह है उसका कथन। इसलिए कश्मीरियों की साँस्कृतिक पैमाइश करने की अगर सुविधा प्राप्त हो तो कुछ-न-कुछ ऐतिहासिक सामग्री अवश्य मिलेगी। इसका यथार्थ रूप से अध्ययन करना बड़ा जटिल काम है, क्योंकि पठान राज्य में कश्मीर की पुरानी पोथियाँ बोरियों में भरकर डल

सरोवर में डुबो दी गईं। बाकी बचे हैं कल्हण की राजतरंगिनी और नीलमत पुराण, लेकिन वे भी इस समस्या को सुलझाने में खास सहायक नहीं हैं।

राजतरंगिनी और नीलमत पुराण में निर्देश किया है कि कश्मीर घाटी पूर्वकाल में एक बहुत बड़ी झील थी जिसे सती सर कहते थे। कश्यप मुनि ने पहाड़ को काटकर पानी का निस्सार किया, और सरोवर के सूख जाने पर जो भूमि निकल आई उसका नाम 'कश्यप-मीरा'—जो बाद में कश्मीर बन गया—रखा और उसे आबाद किया। उस समय वहाँ दो लड़ाकू जातियाँ, यक्ष और पिशाच रहती थीं, जो कश्मीर के ब्राह्मणों को भयभीत करती थीं। इससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य लोग भी रहते थे, जिनके नाम राजतरंगिनी में निशाद, दर्द, भुट, भिक्ष और दमर ही दिए गए हैं।

अधिकतर लोगों का मत है कि कश्मीरी आर्य जाति की औलाद हैं। मेरा विश्वास है कि आर्य लोगों के सही लक्षण अगर कहीं देखने में आते हैं, तो केवल कश्मीर में। किन्तु यह कहना कि आर्य जाति यहाँ आकर कैसे बसी, और फली-फूली, जटिल काम है। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक कश्मीरी का ब्राह्मण, बौद्ध, यूनानी, ईरानी आदि जातियों के मेल-मिलाप से ही उद्भव हुआ है, और इसकी बहुमुखी प्रतिभा तथा सहनशीलता दीर्घकाल से ज्यों-की-त्यों चली आ रही है। यहाँ सबसे पूर्व नाग जाति ही फली-फूली, जिनमें नागार्जुन, नागबोधि आदि जैसे व्यक्ति पैदा हुए। बुद्ध के देहावसान के पश्चात् जब भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, तो कश्मीर में सबसे पहले नाग लोग ही उसके अनुयायी बने, लेकिन दो धर्मों के बीच कोई संघर्ष नहीं हुआ। बौद्ध-धर्मावलम्बी होते हुए भी यहाँ के शासकों ने बौद्ध विहारों के साथ-साथ हिन्दुओं के मन्दिर बनाए और उन्हें अपने देवी-देवताओं की उपासना करने में कोई बाधा नहीं डाली। इसी प्रकार जब बौद्ध धर्म का पतन हुआ और ब्राह्मण धर्म ने फिर गौरव का स्थान प्राप्त किया, तब भी इसका कोई विरोध नहीं हुआ। शाह हमदान के साथ चौदहवीं शताब्दी में इस्लाम का आगमन भी किसी को नहीं अखरा। मुसलमानों के, खास तौर से पठानों के शासनकाल में, कश्मीर पर अन्धकार के बादल छा गए और हिन्दुओं पर अत्याचार किये गए। तब मुसलमानों ने हिन्दुओं को आश्रय दिया और उनका दुख दूर करने की चेष्टा की। वास्तव में हिन्दू और मुसलमान संस्कृति के सम्मिश्रण से एक नई ही विचारधारा चल पड़ी, जिसका अभिव्यंजन सुन्दर ढंग से ललेश्वरी आदि ने की।

यहाँ यह बता देना जरूरी है कि कश्मीरियों की सामाजिक परम्परा की जड़ तक पहुँचने का प्रयत्न अभी तक नहीं हो सका है। विदेशी विद्वानों ने इस ओर कुछ प्रयत्न किया है, किन्तु उनमें काफी त्रुटियाँ पाई गईं। कइयों ने वस्तुस्थिति को समझे बगैर अपना मत प्रकट किया, और शासन कार्य के सुभीते के लिए सच्चाई को छुपाने की कोशिश की। कई पंडितों ने विश्लेषण करके पता किया है कि यहाँ की अनेक

जातियाँ आर्य आक्रमणकारियों के परिवर्तित रूप हैं। अधिक विस्तार से कहने की यहाँ गुंजाइश नहीं है; इसलिए केवल कश्मीर घाटी के लोगों के बारे में ही कुछ कहूँगा, क्योंकि बाहर से आए हुए लोगों का इनके साथ ही मेल-मिलाप होता है।

कश्मीर के ब्राह्मण, जिन्हें पंडित कहते हैं, अनेक तास्सुबी शासकों द्वारा उद्विग्न किए गए। इसलिए अधिकतर अपनी जन्म-भूमि को छोड़कर चले गए। पठान शासनकाल में, जनश्रुति के अनुसार, घाटी में ब्राह्मणों के कुल ग्यारह घर बाकी रह गए थे। जैनुलाबदीन 'बड़शाह' के सुनहरे शासनकाल में कश्मीरी पंडितों की फिर इज़्ज़त होने लगी और बहुत से लोग वापस लौट आए। उन्होंने अपने को 'बानमासी' कहा और यहाँ के लोगों को 'मलमासी', किन्तु आपस में मेलजोल, ब्याह-शादी करने में कोई रुकावट नहीं रखी। वास्तव में पंडित लोग १३३ गोत्रों में बटे हुए हैं और इतने ही श्रेष्ठ मुनियों की संतान अपने को मानते हैं। लेकिन सामाजिक प्रतिष्ठा का गोत्र से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह व्यवसाय पर आधारित है। एक ही गोत्र में ब्याह रचाने का रिवाज नहीं है। गोत्र का ठीक करना कोई साधारण काम नहीं, क्योंकि कश्मीरियों में उपनाम धारने की प्रथा चली है। पंडित आनन्द कौल ने अपनी एक पुस्तक में इस विषय पर यूँ कहा है—"वसुदेव के घर में तूत (तुल) का पेड़ था इसलिए लोगों ने उसका उपनाम वसुदेव तुल रखा। इस उपनाम से छुटकारा पाने के लिए उसने तूत के पेड़ को काटा, लेकिन उसका मूल (मोंड़) शेष रह गया, और लोगों ने उसका नाम बदलकर वसुदेव मोंड़ रखा। फिर उसने मूल को भी बाहर निकलवाया, लेकिन वहाँ गड्ढा रह गया, इसलिए लोगों ने उसका नया उपनाम वसुदेव खोड़ रखा। वसुदेव ने गड्ढे में फिर जरूरत से ज्यादा मिट्टी डाली और उस स्थान पर ढेर (टेंग) बन गया। लोग उसका पीछा छोड़ने वाले तो थे नहीं, उसका नाम फिर बदलकर वसुदेव टेंग रखा। विवश होकर उसने अन्य प्रयास नहीं किया। अब भी उसके आनुपूर्विक वंशीय 'टेंग' कहलाते हैं।"

कश्मीरी पंडितों ने सदा से नौकरी के पेशे को अपनाया है, इसलिए अब भी सरकारी नौकरी करने वाले को काफी सम्मान प्राप्त है। मुसलमानों के दौर में इन्होंने फारसी और उर्दू में महारत हासिल की और उच्च पदवियाँ प्राप्त कीं। हालांकि पठान, सिक्ख आदि शासकों ने उन पर मनमाने अत्याचार किए, लेकिन शासन कार्य इन्हीं के भरोसे चलाते थे। इनमें शिक्षा का बहुत प्रचार है और पुरुषों में कम-से-कम नब्बे प्रतिशत शिक्षित हैं। जो कश्मीरी पंडित पठानों के आतंक से तंग आकर भारत के भिन्न-भिन्न हिस्सों में फैल गए, वे बड़े पंडित, शासनकर्ता, राजनीतिज्ञ बने। प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू आदि लोगों के विषय में मैं कुछ नहीं कहूँगा, क्योंकि उनका तो हमारे जीवन से क्षण-क्षण का सम्बन्ध है। कश्मीरी पंडितों को अपनी जन्म-भूमि से हद से ज्यादा प्रेम है। हालांकि बहुत से शासकों के हाथों इनका शोषण होता रहा, इन्होंने कश्मीर से बाहर जाकर जीविका

ढूँढने का प्रयत्न नहीं किया। कुछ हद तक इनका आलस्य और प्रकृति-प्रेम इसके लिए जिम्मेदार है। परन्तु अब परिस्थिति बदल गई है। मुसलमानों की शिक्षा का स्तर भी ऊँचा हो रहा है और उन्हें सरकारी नौकरियों में अपना हिस्सा मिल रहा है। इसलिए पंडितों को अपनी जन्म-भूमि से बाहर आना पड़ रहा है। समूचे भारत में इनकी योग्यता का सम्मान हो रहा है। यह लोग सारस्वत ब्राह्मण होते हुए भी माँसाहारी हैं, क्योंकि इनकी नीलमत पुराण पर गहरी निष्ठा है। ठंडी जलवायु के कारण ये अपने को माँस, मछली आदि के प्रलोभन से दूर नहीं रख सके हैं।

कश्मीर में इस्लाम का आगमन तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में होता रहा, और पहले घाटी की हिन्दू जनसंख्या का शान्तिपूर्वक मत-परिवर्तन करने की चेष्टा की गई। लेकिन पठानों के शासनकाल में परिस्थिति बदल गई और तलवार का प्रयोग हुआ, जिसके फलस्वरूप हिन्दू-संस्कृति नष्ट-भ्रष्ट होकर रह गई। मुसलमान शासनकाल में जेनुलाबदीन 'बड़शाह' तथा मुगल सम्राट अकबर ने कश्मीरियों की बिगड़ी दशा सुधारने का प्रयत्न किया। हिन्दुओं को फिर से पूजा-पाठ करने की अनुज्ञा प्राप्त हुई और इन दो शासकों ने हिन्दुओं के टूटे-फूटे मन्दिरों की मरम्मत करवाई और अन्य सुविधाएँ दीं।

जहाँ हिन्दुओं के शासनकाल में कश्मीर में शिक्षा का प्रचार हुआ और सोमानन्द, अभिनवगुप्त, कल्हण जैसे पंडित, दार्शनिक, ज्ञानी तथा कवि प्रादुर्भवित हुए; वहाँ मुसलमान दौर में यहाँ की हस्तकलाओं का विकास हुआ। कहते हैं कि शाल, कालीन, पेपरमाशी आदि दस्तकारियाँ जैनुलाबदीन द्वारा बुखारा, समरकन्द आदि देशों से ही कश्मीर लाई गईं। किन्तु जहाँ तक शाल के आविष्कार का सम्बन्ध है, मैं इसका श्रेय बड़शाह को नहीं दूँगा, क्योंकि महाभारत के युग में भी कश्मीरी शालों की चर्चा थी और रोम के जूलियस सीजर के तोशखाने इनसे भरे पड़े थे। इसका संकेत पुराने ग्रन्थों में मिलता है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि जैनुलाबदीन से पहले इन हस्तकलाओं को नष्ट-भ्रष्ट किया गया था। फारसी और उर्दू के प्रचार को कश्मीरियों ने स्वीकार किया। निर्माण-कला ईरान से प्रभावित हुई और दोनों के समन्वय से नई ही कला का जन्म हुआ। मुगलों के बाग, उनकी बनाई हुई मसजिदें अभी उन निर्माणकर्त्ताओं की याद दिलाती हैं, जिन्होंने कश्मीर की संस्कृति पर अपनी अमिट छाप डाली है। उनके राज्यकाल में कई सूफी कवियों ने भ्रातृत्व तथा धार्मिक सहिष्णुता का सन्देश गाँव-गाँव में जाकर सुनाया और अपनी कविता से कश्मीरी भाषा के साहित्य-भंडार में वृद्धि की।

कश्मीर में अभी भी पठानों और मुगलों के कुछ कुंबे हैं जो अपने को खाँ और सरदार कहकर पुकारते हैं। 'बोम्ब' और 'खोखा' दो लड़ाकू जातियाँ पूर्वकाल में बारामुल्ला के आस-पास रहती थीं और लोगों को भयभीत करती थीं। डोगरा शासक गुलाबसिंह ने इनको परास्त कर, घाटी में शान्ति स्थापित की। 'डूम' और 'गलवान' जो घोड़े पालने और चमड़े का काम करते हैं, अपने को अन्य मुसलमानों से

नीच समझते हैं। किन्तु अब इनकी आर्थिक हालत सुधर गई है। और इन्होंने खेती का काम शुरू किया है। गडरिए अपने को 'चौपान' कहते हैं और इनका काम भेड़ें चराना है, इसलिए सारा साल पहाड़ों और जंगलों में घूमते-फिरते हैं। काफी हृष्ट-पुष्ट हैं, और जंगलों में विचरते जड़ी-बूटियों को इकट्ठा करते हैं। 'बाँड' और 'भगत' का पेशा नाचने-गाने का ही है। मुसलमान लोग शिया और सुन्नी दो वर्गों में बँटे हुए हैं। कई गाँवों में शिया लोगों की बहुतायत है और वे पेपरमाशी आदि का काम करते हैं।

कल्हण की राजतरंगिनी में कश्मीर के नाविकों को 'निषाद' का नाम दिया है, जिससे पता चलता है कि पहले ये क्षत्रिय थे। अब उन्हें हांजी कहते हैं। ये काफी परिश्रमी हैं और अब भी शिकारा, डूँगा या हाऊसबोट चलाने का ही काम करते हैं। कश्मीर की आबादी का यह एक भाग है जो नावों में ही जीवन व्यतीत करते हैं। अब इनकी आर्थिक स्थिति ऊँची हो गई है और ये अपने मकानों में रहने लगे हैं। नाविकों की भी कई श्रेणियाँ हैं; 'डल हांजी' जो झील से सब्जी आदि लेकर श्रीनगर आते हैं; 'गारि हांजी' जो सिंघाड़े बेचते हैं और 'गाड़ हांजी' जो मछली का व्यापार करते हैं।

वेश-भूषा

कश्मीरियों ने अपनी जरूरतें बहुत कम करना सीखा है। इनके रहन-सहन, खान-पान में साधारणता ही झलकती है। इनका पहनावा एक लम्बा चोगा-सा 'फिरन' है, पाजामा और गोल टोपी। दरिद्रता के कारण अकसर लोगों में कमीज पहनने का रिवाज नहीं। सर्दियों में कांगरी सेंकते हैं और ऊपर से गर्म ऊनी कम्बल 'लोई' ओढ़ लेते हैं। बस, यही इनका लिबास है। मुसलमान स्त्रियाँ फिरन और सलवार पहनती हैं, लेकिन सिर पर कसाबा पहनती हैं। लाल कपड़े की छोटी तहें चढ़ाने से छोटी पगड़ी जैसी बनती है, उसे कसाबा कहते हैं। परतों में सूइयाँ चुभोकर बन्द कर देती हैं। ऊपर से ओढ़नी या शाल ओढ़ लेती हैं।

पंडिताइन

कश्मीरी पंडितों के फिरन के बाजू लम्बे होते हैं। उनमें चूड़ीदार पाजामा और कमीज आदि पहनने का रिवाज है। वे साफा बाँधते हैं। पंडिताइन का फिरन बहुत ढीला होता है, लेकिन रंगीन। उसकी किनारी पर लाल डोरी लगाई जाती है और बाजू पर लाल रंग के

कपड़े की छोटी-सी पेटी 'नरिवार' लगाई जाती है। इनके सिर का 'तरंगा' मुसलमान स्त्रियों के कसाबे की तरह ही होता है, लेकिन उस पर आभूषण पहनती हैं। पंडिताइन का तरंगा जरी आदि कीमती कपड़े का बनता है। तरंगे के ऊपर एक लम्बी मलमल की साँप की आकृति से मिलती हुई टोप पहनते हैं, जो पीछे पाँव तक लटकती है। उसके ऊपर मलमल की पिछोरी पहनती हैं, या सर्दियों में ऊनी शाल। कुँवारी लड़कियाँ फिरन पहनती हैं लेकिन सिर पर टोप होता है जिस पर जरी का काम किया होता है।

यह सच है कि फिरन कश्मीरियों के आलस्य का कारण है। जनश्रुति है कि फिरन पहनने का रिवाज अकबर के शासनकाल से चला है। कश्मीरियों ने उसके सेनापति कासिमखाँ को हराकर मार भगाया था। जब कश्मीर पर अकबर का राज्य हुआ, तो कश्मीरियों की शूरवीरता का अन्त करने के लिए इन्हें फिरन पहनने पर मजबूर किया गया। मुगलों के शासनकाल से पहले यहाँ छोटा कोट और पाजामा पहनने का रिवाज था। शिक्षा के फैलाव और समय के बदलने के साथ-साथ फिरन पहनना लोग छोड़ रहे हैं। अब वे कोट-पतलून और चूड़ीदार पाजामा ही पहनते हैं, और स्त्रियों में साड़ी और सलवार-कमीज पहनने का प्रचार हो रहा है।

कनबाजी

औरतें कई प्रकार के आभूषण पहनती हैं। मुसलमान स्त्रियाँ तो सिर से पैर तक चाँदी के गहनों से लदी होती हैं। जहाँगीर की मलिका नूरजहाँ ने कश्मीरियों के लिए अनेक आभूषणों का आविष्कार किया और जैनुलाबदीन ने बुखारा और समरकन्द से कारीगरों को बुलाकर इस उद्योग को प्रोत्साहित किया। गहनों के नाम प्रायः संस्कृत और फारसी से लिए मालूम पड़ते हैं जैसे—कंठी, टीका, हल्कबन्द बाजबन्द आदि। 'टीका' तथा 'जिगनी' चाँदी अथवा सोने का गोलाकार गहना है, जो माथे पर लटकता हुआ नजर आता है। कानों में 'बालियाँ', 'दूर', 'अल्कहोर', झुमके डेजीहोर आदि पहनने का रिवाज है। पंडिताइन के सुहाग की निशानी डेजीहोर है। है। यह अंडे की शक्ल का खुदाई किया हुआ सोने का छोटा-सा गोला है, जो कानों
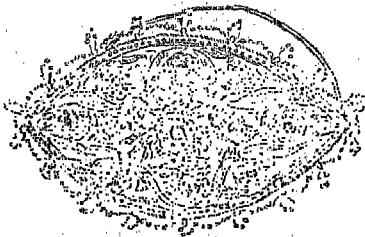
कनबाजी

से सोने की ही मोटी और चपटी एक फुट लम्बा र 'तालरज' से लटकता है। कश्मीरी औरतों को गहने बड़े प्यारे हैं और वे इनके गीत गाती हैं। एक महिला अपने बच्चे को यूँ लोरी सुनाती है—

गूर गूर करयो कनके दूरो, कनके दूरो,
नैल छय खैल-माल, हटि हंजूरो, हटि हंजूरो।

'तुझे हिला-हिलाकर लोरी सुना रही हूँ, मेरे कान के 'दूर'। तुमने 'खैल माल' पहनी है और गले में हंजूर बाँधा है।'

गले का अलंकार हल्काबन्द, तुलसी, कंठी तथा हार हैं, किसी में सोने-चाँदी की मात्रा कम, किसी में ज्यादा। यह गहने कश्मीरी महिलाओं के सौन्दर्य को चार चाँद लगा देते हैं। कलाई में पहनने के लिए 'बुंगर', 'गुनुस' और 'कछकर' हैं। एक प्रेमिका अपने प्रेमी को कहती है—

श्रोनीवार बुंगरि नरि लोल गरवाव्यम्
शोक चानि दिलबरो पान मोरुम।
'तुम्हारे ही लिए बाजू में बुंगरी पहनी,
तुम्हारे ही लिए मैंने यह साज सजाया।'

पंडिताइन का गहना

खान-पान

कश्मीरी चावल इस्तेमाल करते हैं। सब्जियों का प्रयोग काफी करते हैं, लेकिन भारत के अन्य प्रान्तों में जैसे दाल-भात या दाल-रोटी खाने का ही रिवाज है, कश्मीरी 'कड़म' साग और भात पर ही निर्वाह करते हैं। माँसाहारी तो हैं ही, लेकिन रोज माँस, मछली, मुर्गा खाने का ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होता। ठंडी जलवायु के होते हुए भी इनको शराब पीने की आदत नहीं है, गाँव में कहीं मद्य का नाम सुनने में नहीं आया है। सर्दी में निर्वाह करने के लिए चाय को ही अपना साथी बना लिया है। चाय दो प्रकार की बनती है—कहवा और नमकीन चाय। कहवा एक खास सब्ज चाय की पत्तियों को चीनी समेत उबालकर बनाया जाता है और अति स्वादिष्ट होता है। चीनी लोगों की तरह वे चाय में दूध नहीं डालते हैं। चाय हमेशा समावार में
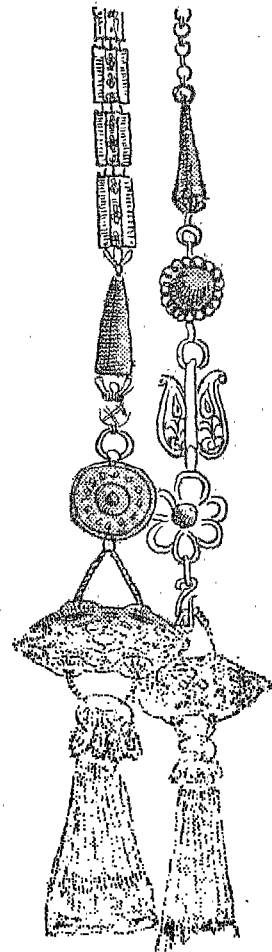
तैयार की जाती है। नमकीन चाय पत्तियों को नमक वाले पानी में उबालकर बनाई जाती है। रंग निकल आने के लिए उसमें थोड़ा खाने का सोडा डाल देते हैं और घंटा भर उबालकर उसमें फिर पानी और दूध डाल देते हैं।

समावार का आविष्कार रूस में हुआ था, और कश्मीर में भी इसका प्रयोग होता है। रूस से समावार किसी यात्री के हाथों पहुँचा है। यह ताँबे या पीतल का गोलाकार 'सिलेण्डर' जैसा पात्र है जिसमें आठ-दस प्याली पानी आ सकता है। इसके बीच में एक चौड़ी 'पाइप' अथवा नली लगी होती है जिसमें लकड़ी के जलते हुए कोयले डाल देते हैं। नीचे अँगीठी की तरह जाली होती है जिसमें से हवा अन्दर आती है और कोयले की राख बाहर निकल आती है। कश्मीरी चाय पीने के शौकीन हैं। काम पर लगे हुए कारीगर एक घंटे में एक पूरा समावार खाली कर के रख देंगे।

सब्जियाँ आदि तो स्वादिष्ट हैं ही, लेकिन उनको पकाने का तरीका अलग है। जहाँ तक माँस आदि पकाने का सवाल है, यह कला इन्होंने ईरानियों से मुगलों के शासनकाल में सीखी। कहते हैं जैसे आम का मजा चखने में ही है, वैसे ही कश्मीरियों की पकाई हुई सब्जियों का आनन्द उनका स्वाद लेने से मिलता है।

रहन-सहन

कश्मीरी मुसलमान हिन्दुओं की अपेक्षा हट्टे-कट्टे हैं। कारण यह है कि हिन्दू अधिकतर नौकरी-पेशा लोग हैं और मानसिक परिश्रम करते हैं, शारीरिक नहीं। अकसर घर पर भी दफ्तर का काम करते हैं, या अपनी सामाजिक कुरीतियों की चर्चा। कभी खेल-कूद, मनोविनोद की ओर उनका ध्यान नहीं जाता, इसलिए दुबले-पतले और बीमारियों का शिकार होते हैं। कश्मीर जैसे स्थान में रहते हुए भी वे प्रबल न हों, अजीब-सी बात लगती है, मगर है सच। शायद उनकी सामाजिक रूढ़ियाँ ही इसका कारण होंगी, लेकिन उन्होंने उनके वि[illegible] किया। अगर किसी युवक या युवती की हिम्मत पड़ी तो [illegible] गया। कश्मीरी मुसलमान इन कुप्रथाओं से अभी बचे हुए हैं, इसलिए उनकी औरतों को काफी आजादी मिली है। जमाना आगे बढ़ रहा है, मुझे आशंका है कि कश्मीरी पंडित, इन बन्धनों में जकड़े हुए, समय की दौड़ में पीछे न रह जायें, और अपने गौरवमय इतिहास को क्षीण स्मृति न बना बैठें।

मेरे कई मित्र शिकायत करते हैं कि उन्होंने कश्मीरियों के रहन-सहन में विशेष स्वच्छता नहीं पाई है। इसमें सन्देह नहीं है कि कश्मीर के गाँव या शहरों के बाजार और गलियाँ गन्दी हैं, लेकिन वैसा ही हाल भारतवर्ष में और कहीं भी है। नई दिल्ली को छोड़, पुरानी दिल्ली को ही लें, तो लगता है कि रौरव नरक में ही आ पहुँचे हैं। इसलिए इस परिस्थिति का यथार्थ रूप से अध्ययन करने की आवश्यकता

है। भारतवर्ष के करोड़ों लोगों की तरह कश्मीरी दरिद्र हैं और इनके घरों में मामूली सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं हैं। दरिद्रता सदा अस्वच्छ वातावरण में ही आकर आश्रय लेती है। जिन लोगों की आर्थिक स्थिति अच्छी है, उनके घरों में हमाम हैं और सेंकने के लिए विद्युत के हीटर। जब पारा हिमांक से नीचे चला जाय, तो सर्दियों में रोज ठंडे पानी से क्योंकर नहाया जाय? मैंने दिल्ली में जाड़े में—जो कश्मीर के वसन्त से भी सुखकर है—लोगों को रोज नहाते नहीं देखा है। जब कश्मीरी के घर पर लकड़ी ही इतनी है कि मुश्किल से खाना तैयार हो, पानी कहाँ से गर्म हो सकेगा? गाँव के लोगों को वहम भी है, कि रोज नहाने से ठंड लग जाने का खतरा है। और कुछ हद तक है भी सही बात। गाँव का बीमार या तो स्वयं ही ठीक हो जाय या कूच कर जाय, और कोई रास्ता तो है नहीं। अब उनके मिथ्या-विश्वास को दूर करना, उनकी सड़कें-गलियाँ साफ-सुथरी रखने की जिम्मेवारी सरकार पर भी है। इस प्रश्न पर जितना ही गहरा विचार करें उतना ही यह उन लोगों की आर्थिक स्थिति से सम्बन्धित होता प्रतीत होता है।

कई विदेशी लेखकों ने कश्मीरियों के बारे में बहुत जनप्रवाद फैला रखे हैं। एक ने लिखा है कि वे कांगड़ी गले में लटका कर चलते हैं, दूसरे महाशय का कथन है कि दो कश्मीरी एक ही फिरन में घुसकर सड़कों पर चलते-फिरते नजर आते हैं। अगर ऐसे मूढ़ लेखकों की आँखों में विदेशी सत्ता की धूल फेंकी गई थी तो उसमें कश्मीरियों का कोई कसूर नहीं दीखता। कश्मीरियों ने अपनी शूरवीरता की मिसालें ललितादित्य, जैनुलाबदीन, जयपीड़ा और अवन्तीवर्मण के राज्यकाल में दी। जब १९४७ ई० में पाकिस्तान का आक्रमण हुआ तो इन्होंने फिर अपनी बहादुरी दिखाई। मुगलों, पठानों और सिक्खों के समय में उन पर मनमाने अत्याचार हुए और अपनी जान तथा इज्जत बचाने के लिए उन्हें छल-कपट से भी काम लेना पड़ा है।

अशिक्षित होने के कारण अभी कश्मीरियों, खास तौर से गाँव-निवासियों को पीरों-फकीरों पर विश्वास है। उनके कुछ मूढ़ विश्वास भी हैं, ऐसे ही जैसे अंग्रेजों के। मैंने आज तक किसी अंग्रेज को दीवार से लगी हुई सीढ़ी के नीचे से गुजरते नहीं देखा है। कश्मीरी अपने नटखट बच्चों को 'खोखा' कहकर डराते हैं, क्योंकि पूर्वकाल में खोखा लड़ाकू जाति यहाँ के लोगों को तंग करती थी। नए कार्य का श्रीगणेश करने पर अगर किसी को छींक आ जाय तो कश्मीरी पण्डित के मुँह पर मुर्दनी छा जाती है। जब काम पर चलें तो पहला प्राणी जो दाईं ओर से उसका रास्ता काट कर चला जाय, गाय; स्त्री या पुरोहित नहीं होना चाहिए। अगर अपने सामान में लेस भंगी आ जाय तो मान लीजिए कि उसका भाग्य खिल उठा।

हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों के मिथ्याविश्वास थोड़े हैं, लेकिन भूत-प्रेत से वे बहुत डरते हैं। वे अल्लाह की कसम खाकर कहेंगे कि उन्होंने रात को 'राह चोक' देखा है, जिसके नाक, कान, मुँह, आँख आदि से आग की लपटें निकलती हैं।

वास्तव में जब वे कब्रिस्तानों के पास से रात को गुजरते हैं, तो फासफोरस की स्फुर-दीप्ति को देखकर डर जाते हैं। हिन्दुओं को भी एक अदृश्य व्यक्ति 'घर देवता' पर विश्वास है। उनका कथन है कि वह देवता उनके घर की रात को रक्षा करता है। वास्तव में बात यह है कि अकसर कश्मीरी मकानों की बरसाती घर का फालतू सामान रखने के काम आती है, और वहाँ बिल्लियाँ अकसर घर बसाती हैं। जो रात को चूहों का शिकार करने निकलती हैं और इसी दौड़-धूप में द्वार आदि खटखटाती रहती हैं। लोग समझते हैं कि देवता ही कभी-कभी उन्हें सचेत करने के लिए द्वार आदि खटखटाता है।

कश्मीरी पण्डितों में 'खिची अमावस' मनाने का रिवाज है। नीलमत पुराण में उल्लेख किया है कि प्राचीन काल में 'यक्ष' लड़ाकू जाति यहाँ के लोगों को तंग करती थी। एक बार लोगों ने उन्हें सन्देश भेजा कि वे लूटमार करने की बजाय पोष मास की अमावस के दिन उनके यहाँ आ जाया करें, जहाँ उनके लिए भोज आदि का प्रबन्ध होगा। इसलिए 'खिची अमावस' को वे अपने घरों से बाहर एक थाली खिचड़ी, माँस, मछली आदि से भरी हुई रख देते थे, जो यक्ष लोग आकर खा जाते थे। यह प्रथा अभी तक चली आ रही है, फर्क केवल इतना है कि अब यक्ष नहीं आते, उनका स्थान बिल्ली, चूहे और पक्षियों ने ले लिया है।

अब शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ इन मूढ़-विश्वासों का भी अन्त हो रहा है।

कश्मीरी महिला

कश्मीरी महिला की सुन्दरता की प्रशंसा कौन नहीं करता। उसकी सुन्दर आँखें, लाल कपोल और स्मित की रेखाएँ और सुन्दर मुखाकृति पर कौन लट्टू नहीं होता। उन्हें देख मैंने कितनी ही बार अपनी दरिद्रता को कोसा है। कितनी बार उनके बारे में लिखते समय अपनी कलाइयों को मेज पर दे मारा है और अपने से यही प्रश्न किया है—क्या इनकी गरीबी उनका पीछा नहीं छोड़ेगी। उनकी क्षीण मुस्कान उनके सुडौल शरीर तथा विशिष्ट वक्षःस्थल को देखकर पूरा विश्वास होता है कि वे ईश्वर की सुन्दरतम कृतियाँ हैं। लेकिन जहाँ उनके रमणीय शरीर पर रेशमी वस्त्रों की आवश्यकता थी वहाँ चीथड़ों का राज्य है। कितनी देर भाग्य की विडम्बना इनके सौन्दर्य का अपमान करती रहेगी, यह कहना मुश्किल है।

कश्मीरी पण्डिताइन ज्यादा गोरी है, हालांकि धूप में परिश्रम करने वाली मुसलमान स्त्रियों के मुँह का हल्का साँवला रंग उनकी सुन्दरता को बहुत बढ़ाता है। लम्बी और पतली नाक, तनी हुई भौंहें, छोटे-होंठ बहुत ही अच्छे लगते हैं। यह कहना ठीक नहीं होगा कि 'फिरन' पहनने से इनकी खूबसूरती में कमी आ जाती है, हालांकि सौन्दर्य की नवीन धारणा के अनुकूल इसमें नारी शरीर की वक्रता

तथा सुडौलपन को उभारने की क्षमता नहीं है। लेकिन कश्मीरियों ने सदा शुद्ध-सौन्दर्य को ही अपनाया है।

कश्मीरी हिन्दू महिलाएँ अपनी घर-गृहस्थी के काम में लगी रहती हैं, क्योंकि बहुधा अशिक्षित होने के कारण, उन्होंने नौकरी करना नहीं सीखा है। मुसलमान महिलाएँ उनके विपरीत पुरुषों के साथ-साथ काम करती हैं। गाँव में वे खेती करती हैं, पशु-पक्षियों की देखभाल करती हैं और साथ-ही-साथ गृहस्थ धर्म का पालन भी करती हैं। नाविकों की महिलाएँ अन्य स्त्रियों से कुछ भिन्न हैं, क्योंकि यह सभ्य भाषा अथवा बर्ताव की रुढ़ियों में जकड़ी नहीं हैं। अकसर आपस में इतना झगड़ लेती हैं कि आवाज दूर-दूर तक सुनाई देती है, और कभी-कभी वाक-युद्ध दिनों चलता रहता है, और साथ-साथ घर का काम भी होता रहता है। लेकिन नाविक महिला अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध है।

ग्वालिनें भी अपनी सुन्दरता के लिए मशहूर हैं। मेरे विचार में ग्वालिन समूची मुसलमान महिलाओं में सबसे अधिक रमणीय हैं। डल के नाविकों की स्त्रियाँ स्वयं नाव में सब्जी लेकर शहर बेचने आती हैं। प्रतिदिन सुबह वह श्रीनगर के बाजारों में सब्जी की टोकरियाँ लिए घूमती-फिरती दिखाई पड़ती हैं।

गूजर महिलाएँ एक जाति-विशेष से सम्बन्धित हैं। बहुत चुस्त और निडर, वनों में रहने के कारण इन्हें अनेक जीव-जन्तुओं का सामना करना पड़ता है। अकेली वे रीछ, तेंदुए आदि का मुकाबला करती हैं। अपना समय अधिकतर भेड़ें चराने तथा गृहस्थ पालन करने में ही व्यतीत करती हैं। पहाड़ों पर एकाकीपन मिटाने के लिए लोक-गीत गाती रहती हैं।

ग्रामीण महिलाएँ खेती करने के अतिरिक्त धान भी कूटती हैं। पत्थर की बड़ी ओखली में इन्हें काफी परिश्रम करके धान कूटना पड़ता है, क्योंकि गाँव में अभी धान कूटने की मशीनें चालू नहीं हुई हैं। इस तरह उनका व्यायाम भी होता है जो शहर की स्त्री को प्राप्त नहीं। भारत की आम महिलाओं की तरह कश्मीरनें [illegible] स्वच्छता अथवा स्वास्थ्य के नियमों से इनका परिचय [illegible] में मरने का शायद यह भी एक कारण है। शिक्षा [illegible] आशा है कि भारत की अन्य नारियों के साथ इन्हें भी बुद्धि-प्रकाश प्राप्त होगा और ये अपने मानसिक, सामाजिक तथा स्वास्थ्य के स्तर को ऊँचा कर पायेंगी।

ग्राम्य-जीवन

वसन्त आया और पहाड़ों पर बर्फ पिघलने लगी। खेतीहर फावड़ा लिए खेतों पर चला। पतझड़ के अन्त तक, जब उसकी खेती तैयार हो जायगी, उसको अनेक संकटों से मुकाबला करना पड़ता है। उसकी सहनशीलता प्रशंसनीय है और उसकी

मेहमाननवाजी और धार्मिकता का कहना ही क्या ? अकसर गाँव के पास ही खेती होती है। रहने के लिए छोटा मकान है, लेकिन साफ-सुथरा नहीं। निचली मंजिल में गाय बैल रखने की जगह है और स्वयं दूसरी मंजिल पर रहता है। सामने ही एक छोटा धान्यागार है जिसमें साल भर के लिए अनाज रखा है। कमरे में घास बिछी है और उसके ऊपर घास की ही बनी चटाई। बिस्तरा नाम-मात्र, मिट्टी की दो-तीन हांडियाँ, एक ताँबे का पतीला और समावार, यही उसकी सारी सम्पत्ति है। मकान इतना पस्त है कि खड़ा होकर चला नहीं जा सकता। चूल्हे का धुआँ बाहर निकलने के लिए कोई रोशनदान नहीं। देहातियों का मत है कि रात को सर्दी से बचने के लिए कमरे को धुएँ से गर्म करना जरूरी है। मुर्गियाँ बहुत पाल रखी हैं, लेकिन अण्डे सारे शहर भेज देता है। गाय के दूध से घी बनता है, और उसे मथने के पश्चात् जो शेष बचता है, उसका स्वयं प्रयोग करता है। गाँव में सड़कें नाम के लिए भी कहीं नहीं हैं, थोड़ी सी वर्षा होने पर सारा गाँव दलदल बन जाता है। गलियों में गन्दा पानी सड़ता रहता है, जिसके कारण अनेक रोग फैलते हैं। देहातियों पर ईश्वर की खास तौर से कृपा है कि कश्मीर में मलेरिया नहीं होता। अस्वच्छ वातावरण में रहने के कारण अकसर लोग आँख और पेट की बीमारियों का शिकार होते हैं। चेचक, कालरा, टाइफस आदि बीमारियों से भी ये बच नहीं पाते।

अकसर गाँव-निवासी खेती करते हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जिनके पास अपनी जमीन नहीं, इसलिए दूसरों की खेती पर जाकर मजदूरी करते हैं। जहाँ भूमि की सिंचाई का प्रबन्ध नहीं, वहाँ मक्की, गेहूँ, जौ आदि उगते हैं। मकई की खेती जब तैयार होने को होती है और ऊँचे बूटे हवा में झूमने लगते हैं, तो इन पर रीछ का आक्रमण होता है। रीछ को मक्की बहुत भाती है, इसलिए खेत-के-खेत नष्ट कर देता है। किसान रात को ढोल पीटते हैं, शोर करते हैं और अलाव जलाते हैं ताकि रीछ से अपनी खेती सुरक्षित रख सकें।

खेती के साथ-साथ वे रेशम के कीड़ों को भी पालते हैं। गाँव में तूत के पेड़ों की बहुतायत है। सरकार से रेशम के कीड़ों के बीज लेकर उन्हें पालते हैं और फिर सरकार को ही बेचते हैं। चूंकि गर्मियों में खेती के काम से ही छुट्टी नहीं मिलती, इसलिए घरेलू धन्धों की ओर ध्यान सर्दियों में ही जाता है। ग्रामीण महिलाएँ चरखे पर सूत या ऊन कातती हैं और उसी से कपड़ा बुनती हैं। वे घास की रस्सियाँ तैयार करती हैं और उनसे 'पूलहोर' जूतियाँ तैयार करती हैं। बर्फीली जमीन पर चलने के लिए यह जूती बहुत ही अच्छी है। चार शाहआबाद और अनन्तनाग के लोग 'कांगड़ियाँ' बनाने में लग जाते हैं, और हर साल उनकी बनाई हुई लाखों कांगड़ियों की खपत होती है। इस प्रकार इन घरेलू धन्धों से बहुत लोगों को जीविका प्राप्त होती है। इसके अलावा गब्बा, नमदा, और ऊनी कम्बल (लोई) बनाने का उद्योग भी सर्दियों में जोरों से चलता है।

५. गोजर

६. ग्राम्य-जीवन का एक दृश्य

खेतीहीन देहाती ही सर्दियों के दिनों पंजाब आदि प्रान्तों में जीविका ढूंढ़ने जाते हैं। वे मिलों में काम करते हैं, बोझा ढोते हैं और लकड़ी काटते हैं। पतझड़ का अन्त होते ही दक्षिण प्रदेशों की ओर पैदल यात्रा आरम्भ करते हैं। रात को सड़क पर खानाबदोशों की तरह डेरा डाल देते हैं और अलाव जलाकर उसके गिर्द बैठ ग्राम्य-गीत गाते हैं। देखने में तो ये लोग बलिष्ठ नहीं लगते परन्तु इनकी काम करने की क्षमता आश्चर्यनीय है। कश्मीर से बाहर आते ही, वे अकसर मलेरिया बुखार का शिकार होते हैं और अत्यन्त दुखी जीवन व्यतीत करते हैं। जब वसन्तकाल में घर लौटने का समय होता है, उस समय इनके पास इतने पैसे नहीं होते कि अपने साथ कुछ चीजें लेते जायें। रास्ते में चोरों का भी भय रहता है। कभी इन निहत्थे मजदूरों की टोलियाँ की टोलियाँ लुट जाती हैं और यह लोग चीथड़ों में घर लौट आते हैं।

गाँव में रहते हिन्दू भी खेती करते हैं, लेकिन अब उनका पेशा दूकानदारी आदि का है। इनका गृहस्थ जीवन अधूरा ही समझना चाहिए। प्रायः देखने में आया है कि कुटुम्ब में ज्येष्ठ भाई ही विवाह कर पाता है, और वह भी काफी पैसा खर्च करने के बाद। छोटे भाई अकसर कुंवारे ही रहते हैं। कारण यह नहीं कि गाँव में कन्याओं की कमी है, बल्कि पैसे के प्रलोभन में फँसकर उनके माता-पिता शहर के अधेड़ उम्र के रंडुओं से उनका विवाह कर देते हैं। इस तरह गाँव के बहुत से नवयुवकों को जन्मान्तर ब्रह्मचर्य व्रत का ही पालन करना पड़ता है। गाँव में विवाह के योग्य युवतियाँ अधिक नहीं मिलती, क्योंकि यौवन में पाँव धरने से पहले ही उनका विवाह गाँव या शहर के धनाढ्य रंडुओं से हो जाता है। हाँ, हिन्दू समाज की कुप्रथाओं को मूक वाणी में कोसती हुई शहर से लौटी हुई विधवाओं के झुण्ड-के-झुण्ड मिलते हैं। कश्मीर के देहातियों की समस्या बिलकुल वही है जो भारतवर्ष के ग्रामीणों की। उनका उत्थान देश की समृद्धि के साथ ही सम्बन्धित है।

बाहर का प्रभाव

कश्मीरियों की प्रतिभा और कला कौशल पर बाहर का बहुत प्रभाव पड़ा है। विभिन्न जातियों के सैलानी, कई भाषाएँ बोलने वाले, अनेक धर्मों के अनुयायी यहाँ आते रहे हैं। इस संयोग से कश्मीरियों ने सब के साथ रहना सीखा। प्रत्येक सैलानी की जरूरत को समझा और उचित व्यवहार करना सीखा। उन्होंने भारत के अन्य निवासियों के साथ मैत्री से रहने का जो आदर्श उपस्थित किया है, वह उनकी परिस्थिति के अनुकूल बन सकने की क्षमता का ही सूचक है।

सैलानियों का प्रभाव कश्मीरियों की कलात्मक प्रतिभा पर गहरा पड़ा। दस्तकारी के नमूने बदलने लगे, क्योंकि नई मांग उत्पन्न हुई। शालों को वनस्पतियों के रंगों से रंगने का रिवाज कम हुआ और मशीनी रंगों का प्रयोग होने लगा, लेकिन

नए रंग आँखों को सहला न सके। कारीगर जहाँ कहीं सोने या चाँदी का प्रयोग करते थे, वहाँ तांबे और लोहे से काम चलाने लगे। हस्तकला की चीजों की माँग इतनी बढ़ गई कि उसे कारीगर पूरी न कर सके। कइयों से हस्तकौशल का ह्रास होते नहीं देखा गया, लेकिन उनकी चीज़ों की बिक्री कम हो गई। विवश होकर उन्हें अपने हाथों ही यहाँ की पुरातन कला की अवन्नति करनी पड़ी। अकसर कारीगरों का लक्ष्य सैलानी ही बनकर रह गया, इसलिए उनका ध्यान सस्ती चीज़ों की माँग पूरा करने की ही ओर गया किन्तु कई ऐसे कला के पारखी भी आए जिन्होंने असली चीजों की माँग की। अगर कश्मीरी कला एवं दस्तकारी की प्रसिद्धि पहले से ही न फैली होती, तो सम्भव था कि यह बिलकुल लुप्त हो जाती। इने-गिने कला प्रेमियों के कारण ही यह सदियों की परम्परा कायम है।

यह सुनकर आश्चर्य होगा कि कश्मीर के नाविक तथा बिक्री करने वाले टूटी-फूटी अंग्रेजी भी बोल लेते हैं। पहले-पहल यूरोपियन सैलानियों ने ही कश्मीर की सुन्दरता की चर्चा की। पैसे की उनके पास कोई कमी नहीं होती, इसलिए उनसे अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए कश्मीरी लोगों ने विदेशी भाषा सीखी। कोई कोई अच्छी खासी अंग्रेजी बोल लेता है, प्रान्तीय भाषाओं में तो वे निपुण ही हैं। यूरोप से आए हुए सैलानियों के साथ मेल-जोल के कारण इन्होंने कूटनीति सीखी और विषयों को तुरन्त समझने के कौशल से परिचित हुए। कश्मीरी लोगों की धनाढ्य तथा दरिद्र, पण्डित और मूढ़, रईस और मामूली लोग, कटु अथवा मीठे स्वभाव के लोग, बूढ़े और जवान सबसे ही भेंट होती रही है। नाना प्रकार के लोगों के मन को ताड़ने या उनकी जरूरतें समझने में उन्हें तनिक मुश्किल नहीं होती है।

उत्सव

उत्सव साधारण तरीके से मनाने के लिए कश्मीरी लोग भारत के अन्य लोगों से आगे हैं। ब्याह-शादी के अवसर पर यहाँ आतशबाजी चलाने, बैंड-बाजा बजाने या दीपमालिका करने का रिवाज नहीं है। कश्मीरी पण्डितों की बरात में चाहे दो सौ आदमी भी हों, लेकिन शोर नहीं होता, मुसलमानों के ब्याह का उनके सगे सम्बन्धियों के अतिरिक्त किसी को पता नहीं चलता। केवल महिलाओं के मधुर गान की ध्वनि ही सुनाई पड़ती है, जो उपयुक्त वातावरण की सृष्टि में सहायक होती है।

कश्मीरी पण्डितों का यज्ञोपवीत संस्कार एक बड़ा उत्सव माना जाता है। यज्ञोपवीत से कई दिनों पहले ही तैयारी शुरू होती है। मेहन्दी-रात को लड़के के हाथ मेहन्दी से रंगे जाते हैं। दूसरे दिन प्रातः शास्त्रानुकूल उसका स्नान आदि होता है। इसे 'दिवगोन' कहते हैं। तीसरे दिन बड़ा होम किया जाता है और पुरोहित द्वारा बच्चे को यज्ञसूत्र पहनाया जाता है। इस दिन सारे सगे-सम्बन्धी इकट्ठे हो जाते हैं और अपने साथ उपहार ले आते हैं। आजकल नकद रुपया देने की प्रथा चल पड़ी

७. नाविक
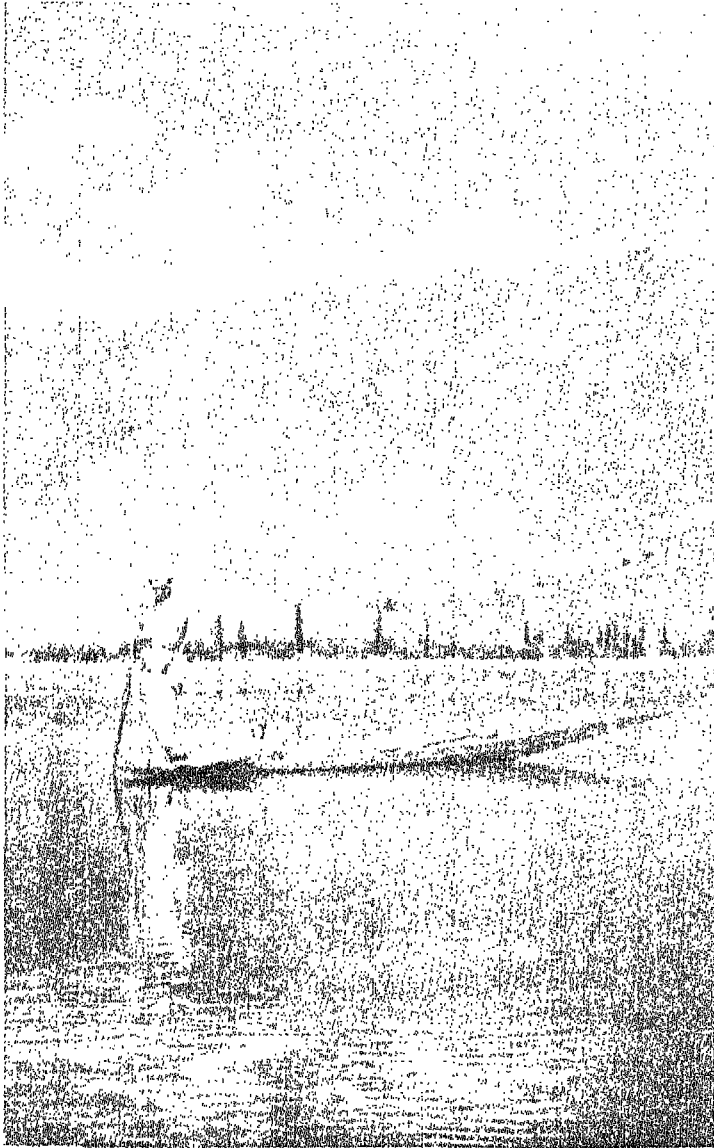
है। हर एक रिश्तेदार पुरोहित के दान-पात्र में कुछ-न-कुछ डालकर ही जाता है। लड़के की मौसी, फूफी और मौसी मेहमानों का स्वागत करती है और दूध-चाय मिठाई से उनकी खातिर करती हैं। सारा दिन गान होता रहता है, जिसमें महिलाएँ ही भाग लेती हैं—

अगन सोन्द्रावुस चन्दनगणे,
वनथ वालुस तोलसी काठ।
कोंगह् त स्यन्द्रे वथिस आटी,
बाह्मण विलब्यस आटीपन॥

"यज्ञ चन्दन की लकड़ी से कीजिये, और तुलसी की टहनियाँ भी वन से ले आकर इसमें डालिए। केसर और सिन्दूर का लेपन किया है मेरे लाल पर, अब ब्राह्मण उसे ब्रह्मचर्य का व्रत धारण कराएगा।"

अगले दिन 'कोशलहोम' होता है, और सारे अतिथियों को विदा किया जाता है। विवाहिता स्त्रियों को कुछ रुपये 'अतगत' के तौर पर दिये जाते हैं।

नए शिशु का जन्म होने पर हिन्दुओं और मुसलमानों के घरों में एक ही ढंग से हर्ष प्रकट किया जाता है। इन उत्सवों के बारे में एक विशेष बात है कि मुसलमान औरतें हिन्दुओं के घरों में आकर गाती हैं और गाकर अपनी खुशी प्रकट करती हैं। श्री ओमप्रकाश मन्त्री ने इन उत्सवों पर गाए जाने वाले गीतों का संकलन किया है। जब शिशु और प्रसूता को पहला स्नान कराया जाता है, तो वे गाती हैं—

सतिमे दोहय सोंदर करमय,
वाजस वुतमय पान फरमाश।

"सातवें दिन तेरा स्नान (सोंदर) किया है और रसोइये को अच्छे-अच्छे पकवान तैयार करने को स्वयं कह आई हूँ।"

ग्यारहवे दिन बच्चे का 'काहनेथिर' अथवा नाम करणसंस्कार होता है। 'जरकासय' के दिन बच्चे का पहली बार मुण्डन होता है। मुसलमानों में लड़कियों का भी मुण्डन होता है। उस दिन स्त्रियाँ गाती हैं—

जरकासयो शालमार गोशन,
मोज छय पोशण माल करान।

'तुम्हारे बाल शालामार बाग के सुरम्य वातावरण में कटवा रही हूँ। तेरी माँ तेरे लिए फूलों का हार गूँथ रही है।'

यज्ञोपवीत की तरह विवाह का उत्सव भी बहुत दिन चलता रहता है। मेंहदीरात और दिवगाने एक ही तरीके पर मनाए जाते हैं। विवाह के दिन दुल्हा केसरी रंग का साफा एचकन तथा चूड़ीदार पाजामा पहन, गले में फूलों तथा इलाइची की माला डाल

कर मोटर, नौका या तांगे में बैठ ससुराल की ओर प्रस्थान करता है तो महिलाएँ गाती हैं—

> योर यलि गछ्व हम
> दछिन किन्य दाँर छय,
> तथ्य अन्दर हुअर छय
> शोलह मारान ।

'जूँ ही ससुराल पहुँचोगे, तो दाहिनी हाथ को खिड़की की ओर देखना । वहीं तुम्हारी मैना (हुअर) बैठी आँखों को चकाचौंध करती हुई तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है ।'

दूल्हे को पहले चूने और रंगों से बनाए हुए गोलाकार 'व्युग' पर खड़ा कर देते हैं और उसे और दुल्हन को थोड़ी-सी चीनी खिला देते हैं । फिर लगन होता है । वैदिक रीति के अनुकूल दुल्हा और दुल्हन हाथ में हाथ दिए सात बार अग्नि की परिक्रमा करते हैं । उसके पश्चात् दोनों एक ही थाली में भोजन खाते हैं । दुल्हन जब अपने घर से विदा होती है तो स्त्रियाँ गाती हैं—

> सन्दूक तै कुँजह् कर माजि हवालय,
> नेर कूर्य वारिव्यन हवालै ।

"घर की सारी चाबियाँ अपनी माँ के हवाले कर, तू अपने ससुराल जा, तू सौभाग्यवती हो ।"

उसी रात को दूल्हा अपनी दुल्हन के साथ ससुराल जाता है । वहाँ उसे अनेक चीजें उपहार के तौर पर दी जाती हैं । विवाह से पहले एक उत्सव 'गंड्न' अथवा मंगनी होता है, जब शादी पक्की कर ली जाती है । लड़की वाले ही लड़के की जन्मकुण्डली को अपनी लड़की की जन्म-कुण्डली से मिलाते हैं, और अगर नक्षत्रों का ठीक मिलन हो और दोनों पक्ष प्रस्ताव स्वीकार करें तो विवाह निश्चित हो जाता है । अभी भी दुल्हन का चुनाव माता-पिता ही करते हैं, लेकिन अब युवकों का इस मामले में बुद्धि प्रकाश हो रहा है ।

शिवरात्री कश्मीरी पण्डितों का सबसे बड़ा त्यौहार है । इस दिन नाना प्रकार के भोजन बनते हैं । मिट्टी के मटके में अखरोट भिगोने के लिए रखने की प्रथा इसी के साथ सम्बन्धित है । शिवरात्री को पूजा-पाठ होता है, शैवमत के अनुयायी होने के कारण ये शिव को ही परमात्मा का स्वरूप मानते हैं । अमावस के दिन अखरोट मटके से निकाले जाते हैं और पूजा-पाठ करके इन्हें सगे सम्बन्धियों में बाँटा जाता है । वसन्त का त्योहार 'सोंत' के नाम से मनाया जाता है । एक टोकरी धान से भर कर उस पर रोटी, लेखनी, दही से भरी प्याली, अखरोट, भात तथा फूल रखे जाते हैं और सुबह उठकर इसी का 'मुँह' देखते हैं ।

'नवरेह' चैत्र अमावस का ही नाम है और इस दिन भी 'सौंत' की तरह ही धान आदि से भरी हुई टोकरी के दर्शन होते हैं।

'पन' भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष में किसी दिन देवी लक्ष्मी को प्रसन्न करने के लिए मनाया जाता है। इस दिन बड़ी-पूरियाँ (रोठ) बनाई जाती हैं और हमसाये के लोगों और सम्बन्धियों को भेजी जाती हैं। अन्य त्यौहार जो भारत के हिन्दू मनाते हैं, वह ये भी मनाते हैं।

मुसलमानों के घर में लड़के का 'खतना' किया जाता है। विवाह जहाँ तक हो सके रिश्ते के अन्दर ही रचाया जाता है। लेकिन प्रतिष्ठित घरानों में यह प्रथा अब कम हो रही है। मुसलमानों की मंगनी की प्रथा कुछ भिन्न है। उस दिन लड़के वाला अपने मित्रों के साथ लड़की वाले के घर जाता है, और उपहार भी साथ ले जाता है। वहाँ भोज होता है, उसके पश्चात् शादी पक्की करने का फैसला होता है। बन्ध-पत्र लिखा जाता है और उसे मसजिद के मुल्ला के हवाले किया जाता है। विवाह की तैयारी बहुत रोज पहले से आरम्भ होती है। मेंहदीरात के समय स्त्रियाँ गाती हैं—

अज हय वाति माँज च्य चन्दन कुलि तलिये,
दन्दन कर मोक्त हार यंबरजलिये।

'आज तुम्हारे लिए चन्दन-वृक्ष के नीचे से मेंहदी आयेगी। प्यारी बेटी, आज तू अपने दाँतों को मोतियों का हार बना।'

दूसरे दिन दुल्हा अच्छे वस्त्र पहनकर दुल्हन के घर जाता है। दुल्हन के लिए डोली को अनेक प्रकार के वस्त्र तथा आभूषण से भरकर पहले ही भेज देते हैं। बरातियों की संख्या का पहले ही फैसला कर लिया जाता है। अकसर ऐसा होता है कि भोजन उतने ही अतिथियों के लिए बनता है। यदि एक भी अधिक हो उसे सत्कार मिलने की सम्भावना नहीं है।

दूल्हे को विशेष आसन पर बिठाया जाता है। भोज के पश्चात् 'निकाह' होता है और पास की मस्जिद का इमाम या पीर बन्ध-पत्र लिखता है। उसे कुछ रुपये उजरत मिलती है। इतनी देर में दुल्हन और इसकी सहेलियाँ दुल्हे के घर से आए हुए उपहारों का निरीक्षण करती हैं। पौ फटते ही दुल्हन को उसका भाई या मामा गोद में उठाकर डोली में बिठाता है स्त्रियाँ गाती हैं—

हवाल करमख पीरि पीरानस्
चीर थफ् करिज्यस दामानस्।

'तुम्हें पीरों के पीर के हवाले कर देती हूँ। देखना, उसका अँचल जोर से थाम लेना।'

दुल्हन सात दिन ससुराल रहकर मायके आती है। फिर महीनों पश्चात् ही वापस लौट आती है। उसका पति स्वयं ही आकर उसे ले जाता है। लेकिन वह न्योता मिले बगैर ससुराल नहीं जा सकता, लेकिन बुलावा दो-तीन मास के पश्चात् ही आता है। उसके बाद उसे ससुराल आने-जाने में कोई रुकावट नहीं होती।

कश्मीरी अपने त्यौहार धूम-धाम से मनाते हैं। जगह-जगह मेले लगते हैं, जहाँ कश्मीर की हस्तकला की प्रदर्शनी-सी लगती है। लोग टोकरियाँ, कम्बल, मिट्टी के बरतन, सस्ते आभूषण आदि मोल लेते हैं। ईद और शिवरात्री के दिन हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे से गले मिलते हैं, और इसी प्रकार आपस के भाई-चारे की मर्यादा को कायम रखते हैं।

कला की परख

उपन्यासकार प्रेमचन्द जी एक बार ठगे गये। बाजार में घूम रहे थे कि फल वाले की दुकान पर नजर पड़ी, कश्मीरी सेबों का नाम सुनकर मुँह में पानी भर आया। दुकानदार के पास गए, उसने चुन-चुनकर कश्मीरी सेब लिफाफे में भर दिए। घर आकर जब प्रेमचन्द जी ने सेबों पर चाकू चलाया तो पानी-पानी हो गए; वे सब-के-सब सड़े हुए थे। ऐसी ही निराशा आजकल उन लोगों को होती है जो बड़े चाव से कश्मीरी शालों के नाम पर सस्ते घटिया किस्म के शाल खरीदते हैं। आजकल जिन शालों की माँग बढ़ रही है उनका कश्मीर की पुरातन कला से कोई सम्बन्ध नहीं है। दुःख की बात है कि लोगों की बदलती हुई माँगे पूरी करने में ही कारीगरों का समय व्यतीत होता है। असली शालों के नमूने तो कहीं ढूँढने पर ही मिलेंगे वरना नहीं। लगता है यह कला उन्नति के स्तर से नीचे उतर आई है।

कश्मीर के शाल इस भू-स्वर्ग के सौन्दर्य के प्रतीक हैं। जैसी सुन्दर यहाँ की प्राकृतिक छटा, वैसा ही प्रशंसनीय यहाँ के लोगों का कला-कौशल। शाल बुनने का उद्योग कश्मीर में बहुत पुराना है। महाभारत के युग से कश्मीरी शालों की चर्चा सुनने में आती है। इनकी सूक्ष्म कला सदा ही दूर-दूर से लोगों को अपनी ओर आकर्षित करती रही है। रोम के सम्राट सीजर के रनिवास के तो सबसे सुन्दर अलंकार यही कश्मीरी शाल थे। इस अनुपम कला को उन्नत करने के लिए कश्मीर

को जो बलिदान देना पड़ा है उसे स्मरण कर मन दुःख और ग्लानि से भर जाता है। शाल के कारीगर का जीवन अति दुःखमय था। झर्झर झोंपड़ियों में बेचारे जी तोड़ कर काम करते। उषा उनके निपुण हाथों का चुम्बन कर चली जाती। सूर्य की अस्त कालीन रश्मियाँ अनुपम कलाकृतियों को देखकर थिरकती हुई चली जातीं। रजनी अपने तारक दीप लेकर इनकी आरती उतारने आती। लेकिन निदर्य मानव उनका सम्मान क्या करता, उल्टे उनका जीवन दुखमय बनाता गया। इतना परिश्रम कर उन्हें पेट-भर भोजन भी उपलब्ध न था। ऊपर से विपत्ति यह कि सरकार कर लगाती थी। तंग आकर यह लोग इस धन्धे को छोड़ भी नहीं सकते थे, क्योंकि उन्हें दण्ड मिलता था। धीरे-धीरे इस उद्योग का ह्रास होता गया। शालों का निर्यात कम हो जाने से सरकार को हानि होती थी, वह उसको कैसे सह सकती।

डोगरा शासक गुलाबसिंह ने हर एक बुनकर पर प्रतिवर्ष ४७ रु० के हिसाब से कर लगाया और अपनी आमदनी को बढ़ाने के लिए कानून बनाया कि कोई बुनकर बीमारी बुढ़ापे या आँखों का प्रकाश खो जाने के कारण शाल का उद्योग नहीं छोड़ सकता, जब तक दूसरा कारीगर उसका स्थान न लेता। इसके अतिरिक्त उसने शाल की कीमत का २५ प्रतिशत कर लगाया, और उसे इकट्ठा करने वाले कर्मचारी ऊपर से २५ प्रतिशत और प्राप्त कर अपनी जेबें भरते थे। इस अत्याचार से बचने के लिए कश्मीरी बुनकर घर छोड़कर पंजाब आदि प्रदेशों में जाकर बसे, सैकड़ों ने इस संकटकाल में अपनी जान खोई। जो चोरी छुपे भागने में सफल हुए, वह जाकर लाहौर, अमृतसर, लुधियाना, गुरदासपुर, सियालकोट, गुजरात, काँगड़ा, शिमला आदि स्थानों में बस गए। इस प्रकार शालों के सौन्दर्य में कश्मीरी कारीगरों के दुर्भाग्य की कहानी अन्तर्निहित है।

कश्मीर के कला-प्रेमी शासकों ने इस उद्योग को उन्नत करने का भरसक प्रयत्न किया। मीर सैयद अली हमदान (१३७८ ई०) और सुलतान नाजुकशाह के मन्त्री मिर्जा हैदर (१५४० ई०) ऐसे ही व्यक्तियों में से थे। बाह्य देशों को कश्मीर के राजे महाराजों या सुलतानों की भेंटें जाती थीं, उनमें अधिकतर शाल ही होते थे।

सुन्दर कला की यह अनुपम वस्तु एक विशेष प्रकार की बकरियों के मुलायम ऊन (पश्म) से बनती है। ये बकरियाँ तिब्बत प्रदेश और पूर्वी लद्दाख में पाई जाती हैं। पश्म को छाँटने और कातने का सूक्ष्म काम प्रायः कश्मीरी नारियाँ ही करती हैं। वास्तव में पश्म को कातकर उसके बारीक तार निकालना ही इन नारियों की सावधानी और धैर्य की कसौटी है। तार को पहले हलके बनस्पति रंगों में रंगा जाता था, अब गहरे और चमकीले रासायनिक रंगों का प्रयोग होता है, क्योंकि लोग उन्हीं को पसन्द करते हैं। परन्तु चमकीले रंगों ने वास्तव में शालों के सौन्दर्य को विकृत कर दिया है।

यूँ तो कश्मीरी शाल अनेक प्रकार के मिलते हैं, परन्तु इनके दो वर्गीकरण समझे गए हैं। 'कानी' शाल जो हाथ-करघे पर बुने जाते हैं और 'अमली' शाल जो पश्मीने पर काढ़े जाते हैं। कानी शाल के बुनने में जिस कौशल और परिश्रम की आवश्यकता होती है, उसका अनुमान करना सम्भव नहीं। खड्डियों पर एक वर्ग इंच से एक वर्ग फुट तक के अलग-अलग नमूने बुने जाते हैं। एक करघे पर दो या तीन कारीगर एक साथ काम करते हैं और प्रथम-बुनकर उन्हें नमूना पढ़कर सुनाता है और कहता है कि किन रंगों का कैसे प्रयोग करें। इन प्रथक नमूनों को इस निपुणता से जोड़ा जाता है कि देखकर यह कदाचित् नहीं कहा जा सकता है कि शाल की बुनाई अलग-अलग टुकड़ों में हुई है। तत्पश्चात् इनको डल झील के पानी में धोया जाता है, क्योंकि उसके पानी में इनको मुलायम बनाने की अद्भुत शक्ति है। जिन्हें कानी शाल ओढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे शायद इनके सौन्दर्य की ही सराहना करते होंगे, क्योंकि उन्हें इनका दूसरा पहलू मालूम नहीं। शाल का प्रत्येक टुकड़ा बनाने में कारीगरों के तीन-तीन साल लग जाते हैं। एक बहुमूल्य शाल तैयार करने में बुनकर की लगभग सारी आयु व्यतीत हो जाती है। बहुत से लोग अपनी आँखों का प्रकाश भी खो बैठते हैं।

अमली शाल पश्मीने के टुकड़े पर काढ़े जाते हैं, लेकिन इनकी बुनाई कानी शाल की जैसी मुश्किल नहीं। कसीदाकारी का नमूना नकाश काग़ज़ पर बनाता है और कारीगर उसको निपुणता तथा कौशल से शाल पर काढ़ता है। भिन्न-भिन्न रंगों को मिलाकर पश्मीने के साधारण टुकड़े को हस्तकला की अनुपम कृति बना देता है। यूँ तो शालों पर कसीदाकारी के बहुत से नमूने काढ़े जाते हैं लेकिन 'बादाम' नमूना बहुत ही पुराना और सर्वप्रिय है। इन नमूनों का निर्माण कारीगरों ने कश्मीर के प्राकृतिक दृश्यों से प्रभावित होकर किया है। झेलम नदी के मोड़ और उसकी नन्हीं लहरियों को उन्होंने पश्मीने पर उतार लिया है। इनके अतिरिक्त पुराने समय के और भी नमूने प्रचलित हैं। मुगल सम्राटों के शिरोभूषण पर एक मोतियों का अलंकार 'जिघा' शोभा देता था। कहा जाता है कि एक कारीगर ने सम्राट बाबर के लिए पश्मीने का रुमाल बनाया था, जिस पर यह अलंकार काढ़ा हुआ था, जो बादाम से मिलता-जुलता है। तभी से यह नमूना प्रचलित हो गया, और धीरे-धीरे इसकी माँग सारे संसार में बढ़ गई।

मुगलों के जमाने में शालों पर सोने और चाँदी के तार से कढ़ाई होती थी। बादाम नमूने के अविष्कार के बारे में काफी लोगों में मतभेद है। यह भी कहा जाता है कि इसकी बाहरी वक्र लकीर झेलम नदी के सर्पाकार को ही चित्रित करती है। लेकिन इस नमूने की प्रगति का इतिहास बहुत दिलचस्प है। इसका पहला रूप हमें १६८० ई० के एक शाल में मिलता है। इसकी बनावट एक छोटी बलखाती लता से मिलती है जिसका ऊपरी भाग दाहिनी ओर मुड़ा हुआ है। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ

में नमूने की लता को फूलों और पत्तियों से भर देने का रिवाज चला लेकिन नुकीले सिरे को वैसा ही रखा गया। ठीक इस समय समूल लता का नमूना काढ़ने का भी रिवाज चल पड़ा और इसने अलंकृत गुलदस्ते का रूप धारण किया। १७४०-७० ई० में कुछ शालों में यह दोनों नमूने देखने को मिलते हैं। इनमें फूलों की अन्तिम टहनी का दाहिनी ओर झुकाव है और तोते की चोंच जैसी लगती है। इनमें अन्य सुधार हुए, फूलों के पात्र पर अधिक जोर नहीं दिया गया और गुलदस्ते ने फूल-पत्तों से भरपूर बेला का ही रूप धारण किया। इसी को यूरोप में 'कोण' अथवा 'पाईन' नमूना कहकर पुकारने लगे। लेकिन इसके साथ ही सुप्रसिद्ध 'बूटा' नमूने का भी प्रचार हुआ। यही नमूना धीरे-धीरे उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य-काल में बादाम नमूने के रूप में विकसित हुआ।

इन नमूनों की सूक्ष्मता को देखकर मनुष्य आश्चर्य-चकित रह जाता है। मन में प्रश्न उठता है कि एक ही शाल समाप्त करने पर बुनकर की आँखों की ज्योति क्षीण तो नहीं होती थी। सच तो यही है कि आँखों का प्रकाश शालों की ही भेंट चढ़ता था।

समय के साथ-साथ इस उद्योग में बहुत उतार-चढ़ाव हुए हैं। मुगल राज्यकाल में इसने उन्नति की; पश्मीने के इतने सूक्ष्म शाल बनते थे कि अंगूठी में से गुजर जाते थे। इन्हें 'रिंगशाल' कहते थे और संसार में इसकी माँग थी। अब तो रेशम और रपल की मिलावट से बने हुए कपड़े को 'रिंगशाल' कहने लगे हैं। १७५२ ई० में कश्मीर पर अफ़गानों का आधिपत्य हो गया। अफगान शासक भी मुगलों की तरह कश्मीरी शालों के दीवाने थे। इन्होंने भी बुनकरों को प्रोत्साहन देकर उद्योग को बढ़ाने में सहायता की। प्रसिद्ध 'जामावार' शाल इसी समय बने और उनका व्यापार फ़ारस, अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, रूस आदि देशों में फैल गया।

बहुत समय तक यह उद्योग फलता-फूलता रहा, परन्तु १८३४ ई० में कश्मीर में दुर्भिक्ष पड़ा जिससे व्यापार को गहरा धक्का लगा। सिक्ख शासक रणजीतसिंह को शालों में विशेष रुचि थी और लड़ाई में जो विजयें उसने प्राप्त की थीं उनका चित्रण शालों पर कराने की उसने माँग की। उसके पहले ख्वाजा यूसुफ (१८०३ ई०) ने सुप्रसिद्ध प्रेम गाथाओं को इस कला द्वारा अभिव्यक्त करने का सफल प्रयत्न किया, निजामी के 'खामसा' तथा अबुलफजल के 'ऐया-ए-दानिश' का चित्रण शालों पर हुआ और इस प्रकार यह कृतियाँ चलती-फिरती कविताएँ बन गईं।

१८७० ई० में फ्रांस और जर्मनी में युद्ध छिड़ गया जिससे इस व्यापार को बहुत हानि पहुँची। उससे पहले यूरोप में शालों की निर्यात दुगनी हो गई थी। लेकिन लड़ाई के कारण फ्रांस के साथ इनका कारोबार बन्द हो गया। शाल ओढ़ने का रिवाज बदलने के कारण घटिया किस्म के शाल बनने लगे और बाह्य देशों में इनकी माँग घटने लगी। १८७७ ई० में फिर अकाल पड़ा और बहुत से बुनकर मौत का शिकार

हुए, सरकार के भरसक प्रयत्न करने पर भी इस उद्योग को अवन्नति की ओर जाने से न रोका जा सका । पश्मीने के शालों पर पाश्चात्य नमूने काढ़ने की प्रथा ने वास्तविक कला को विकृत कर दिया और इस प्रकार घटिया किस्म के शालों ने कारीगरों के मुँह का कौर छीन लिया। कश्मीरी शालों के सौन्दर्य का रहस्य उनके नमूनों और हल्के रंगों के प्रवरण में निहित था । पूर्व की कारीगरी और पश्चिम के नमूनों के भद्दे मिश्रण ने इस कला को गौरव के स्तर से नीचे उतारा । इस प्रकार जिन शालों का उद्‌भव हुआ उन्होंने इस कला का उपहास किया । आशा की जाती है कि कला-प्रेमी शाल-निर्माण कला के कुरूप आवरण को उठाने का प्रयत्न करेंगे। घटिया शालों की बिक्री बन्द हो यही मेरा अनुरोध है । इनके खरीदने से न बेचने वाले और न खरीदने वाले को लाभ है । शाल-उद्योग अभी मिटा नहीं है । सरकार के प्रयत्नों से फिर से प्रसिद्धी प्राप्त कर सकता है ।

कसीदाकारी

शालों का सौन्दर्य बढ़ाने में जिस सूक्ष्म कसीदाकारी का सहयोग है वह भी कश्मीर में दुर्लभ नहीं है । कसीदाकारी के सुन्दर नमूने पुराने 'चोगों' और कोटों पर किए पाये जाते हैं, जिन्हें अब भी कश्मीरी लोग बड़े चाव से पहनते हैं ।

कश्मीर में पाँच प्रकार की कसीदाकारी होती है—'अमली', 'चिकन', 'छवि', 'डूरी' और 'ईरमा', इन सब में 'अमली' सबसे सुन्दर मानी जाती है । यह कसीदाकारी 'अमली' शालों पर काढ़े काम से मिलती है । इसमें पश्मीने के तार का ही प्रयोग होता था । रेशमी और सूती कपड़ों पर यह काम किया जा सकता है, लेकिन अकसर पश्मीने पर ही यह काम होता है, इसकी विशेषता यह है कि सारे कपड़े पर सूक्ष्म फूलकारी होती है । काम की बारीकी इतनी होती है कि दो टाँकों के बीच सूई चुभोने का भी स्थान नहीं रहता । यह कसीदाकारी अब ज्यादा प्रचलित नहीं है क्योंकि इसके लिए कड़े परिश्रम की आवश्यकता है, और अब इसके चाहने वालों की संख्या कम हो रही है ।

मनोहरता में दूसरा नम्बर चिकन कसीदाकारी का आता है । इसमें रेशमी, पश्मीने या सूती किसी भी धागे का प्रयोग होता है । फूलकारी, सूक्ष्म नहीं होती है । आजकल औरतों के वस्त्र, दरवाजों के पर्दों, तकिए के गिलाफ आदि पर यही कसीदाकारी होती है ।

छवि कसीदाकारी प्रायः रिंगशालों पर होती है । इसमें और चिकन कसीदे में थोड़ा-सा अन्तर है । छवि कसीदा सफेद रेशमी धागे से सफेद पश्मीने पर काढ़ा जाता है ।

डूरी कसीदाकारी अपने सस्तेपन और सौन्दर्य के कारण बहुत प्रचलित है। यह अधिकतर शालों और चोगों पर काढ़ी जाती है और इसमें एक ही रंग का प्रयोग होता है।

ईरमा की उन लोगों में माँग है जो कला को भूलकर सस्तापन ढूँढते हैं। यह काम प्रायः साधारण ऊनी कपड़े या पट्टू पर काढ़ा जाता है।

सस्ती कसीदाकारी की माँग बढ़ जाने के कारण यह कला भी दम तोड़ रही है। करीगर करें भी क्या! कहाँ तक कला के नाम पर अपने बाल बच्चों की बलि देते रहेंगे। जब ग्राहकों को सुन्दर नमूनों और हल्के रंगों की ओर कोई आकर्षण ही नहीं रहा, तो वह खून पसीना किस लिए एक करें। कारीगरों को जनता और सरकार का सहयोग प्राप्त हो तो इस कला को उन्नति के स्तर पर पहुँचने में अधिक समय न लगेगा।

कालीन

कश्मीर में कालीन बनाने का उद्योग जैनुलाबदीन के राज्यकाल में फला-फूला, फिर उसकी अवनति हुई क्योंकि कश्मीर पर तासुबी शासकों के अत्याचार होते रहे। इसका पुनर्जीवन १६२० ई० में अखुम रहनमा के हाथों हुआ जो ईरान से कालीन बुनने का सामान ले आया। ईरान कालीन उद्योग के लिए संसार भर में प्रसिद्ध है। ईरानी कालीनों की दो किस्में प्रचलित थीं, एक छः फुट लम्बे और तीन फुट चौड़े आसन जैसे और दूसरे ढाई फीट चौड़े १५ से २० फुट लम्बे होते थे। कश्मीर में भी पहले-पहल ऐसे ही कालीन बनते थे, लेकिन फिर विदेशों में बढ़ती माँगों के अनुकूल बड़े कालीन बनाने का रिवाज चला।

कालीन हाथ करघे पर ही बनाया जाता है लेकिन वह शाल करघे से काफी बड़ा और मजबूत होता है। पहले कालीन का नमूना कागज पर लिखा जाता है। तांता सूत के मजबूत धागे का होता है और नमूना ऊनी धागे से बुना जाता है। ऊनी धागे के रंग-बिरंगे गोले करघे से लटकते रहते हैं। मुख्य बुनकर 'खानम' नमूने को पढ़ता है और बुनने वाला अनुकूल रंग चुनकर बुनता जाता है। अकसर कालीनों पर भी प्रकृतिक दृष्यों का ही चित्रण होता है, पहले पहल वनस्पति रंगों का प्रयोग उनके रंगने में होता था, लेकिन अब रासायनिक रंगों का ही प्रयोग होता है, क्योंकि उनकी अधिक माँग है।

महाराजा रणजीतसिंह के शासनकाल में एक यूरोपियन सैलानी कश्मीर आया और उसने कारीगरों को भद्दे नमूने सिखाकर इस उद्योग को हानि पहुँचाई। लेकिन एक फ्रांसी श्री डीकर्सी ने इस उद्योग को फिर प्रोत्साहन दिया और कारीगरों को अच्छे अच्छे नमूने बनाने में सहायता दी। आजकल कालीनों का अच्छा खासा कारोबार चल रहा है। हाथ से बनाए हुए यह कालीन, ईरानी कालीनों का भी मुकाबिला कर सकते हैं।

पेपरमाशी

पेपरमाशी की कला ईरान से अठारहवीं शताब्दी के मध्य में कश्मीर आई और तब से फली-फूली है। पेपरमाशी की चीजें बनाने का ढंग अलग है। कागज़ या कपड़े के टुकड़ों को उबालकर फिर उन्हें कूटा जाता है। इस तरह जो गूदा तैयार होता है उसकी बहुत-सी तहें लकड़ी के सांचे के ऊपर मढ़ी जाती हैं। सूखने पर वह सांचे का रूप धारण करता है। फिर इसके ऊपर कपड़े की एक तह चिपकाई जाती है और ऊपर गोंद का लेप करते हैं। फिर इसे रंग करने वाले के हाथ में दिया जाता है, जो इस पर रंगीन चित्र बनाता है। नमूना बनाते समय वह अपनी कल्पना शक्ति पर ही ज्यादा भरोसा करता है, क्योंकि उसके सामने कोई किताब नहीं होती। चित्रकार का काम बहुत जिम्मेदारी का है, क्योंकि उसकी चित्रकारी पर ही पेपरमाशी की बनी हुई चीज की बिक्री निर्भर है. पेपरमाशी की अनेक सुन्दर चीजें बनती हैं, जैसे तश्तरियाँ, बिजली के 'शेड', 'गुलदान', आदि। इसके ऊपर 'कोपल' का रोगन किया जाता है अन्य किसी 'वार्निश' का नहीं। अच्छी तरह से रोगन किये हुए पेपरमाशी के अलंकृत पात्र का रंग पच्चास वर्ष तक भी फीका नहीं पड़ता, और इसमें पानी भी कई दिन तक रखा जा सकता है।

लकड़ी का काम

कश्मीर की सबसे सुन्दर लकड़ी अखरोट की है। मज़बूत भी और इस पर पालिश बहुत अच्छी चढ़ती है। इस समय लकड़ी का काम कश्मीर का एक बहुत बड़ा उद्योग बन गया है और प्रति वर्ष लाखों रुपये का माल बाहर भेजा जाता है। लकड़ी का सामान मेज, कुर्सी, सिगरेट केस आदि बनाकर उस पर नक्काशी की जाती है। लकड़ी पर खोदने की कला में यहाँ के कारीगरों ने महारत हासिल की है। यहाँ की 'जालीदार' सूक्ष्म नक्काशी संसार भर में प्रसिद्ध है। अकसर कमल के फूलों आदि का ही चित्रण होता है। नक्काशी किए जाने पर लकड़ी को अखरोट के पेड़ की छाल से उबालकर निकाले हुए रंग में रंगने की भी प्रथा प्रचलित है। इससे लकड़ी का रंग गहरा हो जाता है। लेकिन उसका अपना ही रंग ज्यादा अच्छा लगता है।

धातु का काम

तांबे पर खुदाई के काम का बहुत पहले रिवाज था लेकिन अब इसकी माँग नहीं रही, क्योंकि तांबे पर जल्दी जंग चढ़ता है। चाँदी के सामान के लिए कश्मीर संसार में प्रसिद्ध है। चाँदी पर खुदाई का काम इतना सूक्ष्म होता है कि अकसर शालों के सुन्दर नमूने ही इस पर उतारे जाते हैं। सारा काम हाथ से ही होता है। इन पूर्वी कला के नमूनों के आगे मशीन की बनी हुई चीजें तुच्छ लगती हैं। चाँदी के टी-सेट

गिलास, जग, तश्तरियाँ और आभूषण कश्मीर में स्थान-स्थान पर मिलते हैं। चाँदी से सामान की नक्काशी की कला पर भी पश्चिमी प्रभाव पड़ने लगा है, क्योंकि नए नमूनों की माँग बढ़ रही है। लेकिन इस प्रभाव से इसका कुछ विकास नहीं हुआ है, बल्कि इसमें घटियापन आया है, इस कला को पश्चिमी प्रभाव से बचाने का प्रयत्न होना चाहिए।

टोकरी बनाने का काम

शायद ही कोई सैलानी कश्मीर से बेद की टोकरी मोल लिए बिना लौटेगा। बेद वृक्ष कश्मीर की झीलों और नदियों के किनारे बहुत मिलते हैं। उसकी पतली टहनियों को सुखाकर और लम्बाई में दो हिस्से कर, उन्हीं का प्रयोग टोकरियाँ आदि बनाने में होता है। ऊपर से पालिश चढ़ा दी जाती है। इसकी खाने-पीने का सामान ले जाने की टोकरियाँ, फूलों की टोकरियाँ, कुर्सियाँ, मेज आदि भी बनते हैं। यह चीजें सस्ती और अधिक समय तक चलने वाली हैं।

८

कल्हण और इतिहास
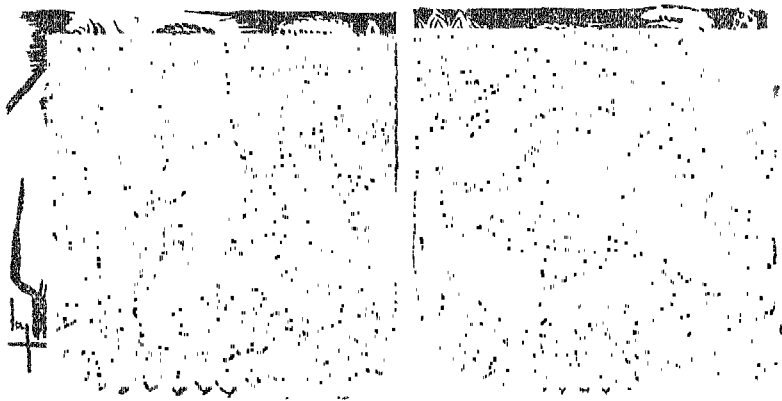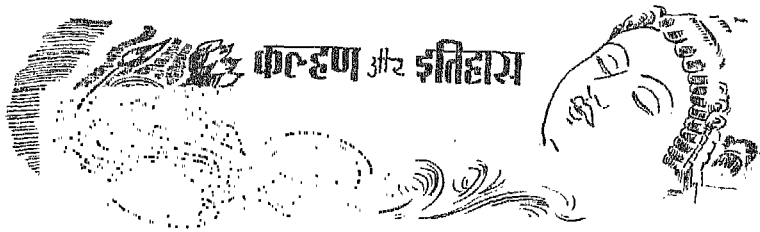
कल्हण की 'राजतरंगिनी' संस्कृत भाषा का एक-मात्र प्राप्त प्राचीन इतिहास है। भारतवासियों के सम्बन्ध में अकसर कहा जाता है कि उन्होंने काव्य एवं साहित्य रचना तो की, किन्तु इतिहास का अभिलेखन नहीं किया। मैं भी इस बात से सहमत हूँ। समूचे संस्कृत साहित्य का अध्ययन करने से साफ़ पता चलता है कि हमारे देश में किसी ऐतिहासिक समालोचक का प्रादुर्भाव नहीं हुआ है। राजतरंगिनी कश्मीर के इतिहास का ही लेखा है, किन्तु भारतवर्ष के लिए इसका बड़ा महत्त्व है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही नहीं, वरन् काव्य-कला की दृष्टि से भी यह महान् कृति है। कल्हण स्वयं अपनी गणना इतिहासकारों में ही नहीं, बल्कि श्रेष्ठ कवियों में भी करता है। राजतरंगिनी आठ 'तरंगों' में बंटी हुई है और इसमें करीब ८,००० श्लोक हैं। यह निसंकोच कहा जा सकता है कि भारतवर्ष को प्रमुख संस्कृत काव्यकारों में कल्हण का अपना श्रेष्ठ स्थान है।

संस्कृत कवि-मण्डल में कल्हण ही ऐसा ग्रन्थकार है जो स्पष्ट शब्दों में अपनी जात-पात, जन्म स्थान आदि की जानकारी देकर पाठक को शिक्षित करता है। वह कश्मीर के महाराज हर्ष के सुयोग्य मन्त्री चम्पक का पुत्र था। महाराज हर्ष का कटु स्वभाव तथा उसकी विनाशक प्रवृत्ति कश्मीरी जनता के लिए विपत्ति बनकर रह गए थे। राज्यदरबार की ठाठ-बाट को बनाए रखने के लिए हर्ष ने लोगों पर अनेक प्रकार के कर लगाए। राजतरंगिनी में प्रजा की इन अन्यायों के प्रति प्रतिक्रिया का वर्णन मिलता है। उस समय की आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक परिस्थिति का परिचय इससे अधिक विस्तृत रूप में अन्य कोई नहीं कर पाया है। कल्हण ने अपने समय की परिस्थिति को समझा और उसकी आलोचना की। सामयिक दोषों पर उसने अपने

काव्य में जो टीका टिप्पणी की है, उससे राजा, ब्राह्मन, व्यापारी जमींदार कोई भी नहीं बच पाया है।

उसने स्वयं लिखा है पहले भी कश्मीर का इतिहास लिखने का कई कवियों द्वारा प्रयत्न हुआ था, किन्तु जब उसने काव्य की रचना आरम्भ की, उस समय कोई पुरानी ऐतिहासिक पोथी उपलब्ध नहीं थी। अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त उसने नीलमत-पुराण के अध्ययन से भी काफी लाभ उठाया। श्रीरामसुत लव से लेकर आठ राजाओं का जो उसने क्रमानुसार वर्णन किया है उसके लिए सामग्री पद्ममिहिर की कृति से ली है। किन्तु कल्हण ने स्वयं अन्वेषण किया, मन्दिरों, सूची स्तम्भों, महलों पर अंकित पुरानी गाथाओं को पढ़ा, पुराने ग्रन्थों का अध्ययन किया, संस्कृति के चिह्न ढूँढ़ निकाले और पुराने सिक्के तथा दस्तावेज प्राप्त कर राजवंशों के बीच सम्बन्ध स्थापित किया। कालीदास के 'रघुवंश' तथा 'मेघदूत' का अध्ययन भी किया और लगता है कि अपने समकालीन बिल्हण के 'विक्रमांकदेव चरित' से भी प्रभावित हुआ। महाभारत तथा रामायण से भी उसने उदाहरण लिये हैं। राजतरंगिनी को लिखना लौकिक सम्वत् ४२२४ (११४८ ई०) में आरम्भ किया और ४२२५ लौ० (११४६ ई०) में समाप्त किया। चम्पक का जन्मस्थान परिहासपुर (पारसपुर) बताया गया है, जिससे कल्हण के जन्म स्थान के बारे में सन्देह की गुँजाइश नहीं रहती।

हर्ष ने अपनी धन लालसा को पूरा करने के लिए मंदिरों के पुजारियों को तंग किया और उस समय के जागीरदार तबके से जिन्हें दामर कहते थे, अनुचित माँगें की। दामरों का दबदबा तो था ही, वह झट विद्रोह पर तैयार हुए। सारे देश में अशान्ति फैली। दामरों ने हर्ष के सम्बन्धी उच्छल तथा सुस्सल दो भाइयों के नेतृत्व में श्रीनगर पर चढ़ाई की। हर्ष की हार हुई और विद्रोहियों द्वारा उसका वध हुआ। फिर भी सुख शान्ति स्थापित न हो सकी बल्कि ग्रह-युद्ध छिड़ गया। कल्हण का जीवन काल कश्मीरियों के लिए अशान्ति का समय रहा। उसने अपनी रचना में साफ लिखा है कि दामरों की कूटनीति, हर्ष की बुद्धिहीनता तथा सरकारी कर्मचारियों के दबदबे के कारण ही जनता पर विपत्ति के बादल छा गए। राजतरंगिनी की रचना उसने जयसिंह के राज्यकाल में आरम्भ की, किन्तु उच्छल और जयसिंह दोनों की उसने निंदा की है।

कल्हण स्वयं शैव ब्राह्मण था, परन्तु बौद्धमत की उसने सराहना की है। ब्राह्मणों के प्रति उसके मन में आदर नहीं था, उनके दुराचार और पाखण्ड की उसने जी भर कर निन्दा की है। उनके घृणास्पद कार्यों का वर्णन उसने बिना संकोच के किया है। पुरोहितों ने स्थान-स्थान पर परिषद् बना रखे थे और राज्यक्षेत्र में अनौचित हस्ताक्षेप करते थे। इसके विपरीत जनता के असीम धैर्य की उसने सराहना की है। मालूम नहीं कल्हण के व्यंग-पूर्ण काव्य के लिए उस समय के ब्राह्मणों की कैसी प्रति-क्रिया रही होगी। उस समय हिन्दू धर्म और संस्कृति पर रीति-रिवाज का आवरण

पड़ चुका । परन्तु कल्हण की दृष्टि इस आवरण को चीर कर मानव हृदय की गहराइयों तक चली गई । राज दरबार में आश्रय पाने की कल्हण की इच्छा नहीं थी, इसलिए उसका व्यक्तित्व महान् रहा । महान व्यक्तित्व और विद्वता के मेल से ही ऐसे अमूल्य साहित्यिक ग्रन्थ की रचना हुई ।

कल्हण की इस अनुपम कृति की सराहना करते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं कि इसमें इतिहास और कवित्व का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है । आठ सौ वर्ष पूर्व रचे गए इस ग्रन्थ का प्रारम्भिक भाग संक्षिप्त और कुछ धुँधला-सा है, परन्तु इसमें अपने समय का वृतान्त सविस्तार दिया है । राजतरंगिनी विशेष रूप से मध्य युग की कथा है और प्रायः षड्यन्त्रों, विद्रोह, ग्रह-युद्ध आदि के वृत्तान्तों से भरी पड़ी है । यह केवल राजाओं की ही कथा नहीं बल्कि उस समय की सामाजिक, राजनैतिक और कुछ हद तक आर्थिक दशा का भी बोध कराती है । बड़े सरदारों के ठाठ-बाट, उनके असहनीय अत्याचार, षड्यन्त्र और राजनैतिक क्षेत्र में नारियों के भागी बनने आदि का पूर्ण विवरण कल्हण ने दिया है । इसके अलावा उसने ललितादित्य की विजयों, उसके निर्माण कार्य को भी अछूता नहीं छोड़ा । इसमें माधवाहन का युद्ध द्वारा अहिंसा का प्रचार करने का भी वर्णन है । माधवाहन ने किस प्रकार मन्दिर बनवाए, और कैसे उनका संहार किया, कैसे असंख्य जीव अकाल और भयंकर आग के अपर्ण हो गए और बच पाए उन पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा, यह सारा वृत्तान्त मानवता के प्रसार की कहानी है ।

वही समय था जब पुरातन आर्थिक ढांचे का परिवर्तन हो रहा था । कश्मीर में ऐशियाई, पश्चिमी, रोमन, यूनानी, ईरानी और पूर्वी मंगोलिया इन सब सभ्यताओं का मेल हुआ था । पुराने ढाँचे के परिवर्तन ने सरकार को कमजोर बना दिया और इस प्रकार कश्मीर बाह्य आक्रमणों का शिकार हुआ । युद्धों ने जनता की सुख शान्ति को लूट लिया । कश्मीर सदा ही बढ़ती हुई शक्ति के विरुद्ध उठता रहा है और हमेशा इसे विजेताओं ने सताया है । उस समय भारत पर मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हो गए थे । लेकिन दो सौ वर्ष तक वह कश्मीर के पहाड़ों से सिर टकरा कर लौटते ही रहे । बाद में भी कश्मीर पर उनका आधिपत्य न होता यदि अन्तिम हिन्दू शासक कोटारानी का मुसलमान मन्त्री विद्रोह न करता ।

राजतरंगिनी में सब से पहले गोनन्द प्रथम का नाम आता है, उसका राज्य "कैलाश पर्वत से लेकर बंगाल की खाड़ी तक फैला था ।" तत्पश्चात् लव, कुश, सुरेन्द्र आदि राजा आए । रामदेव का अन्तिम वंशज महाराज प्रवरसेन था, उसी ने श्रीनगर की नींव डाली । ईस्वी सन् से ३२६ वर्ष पूर्व कश्मीर नरेश ने सिकन्दर महान के आगे हथियार डाल दिए । अशोक का २५० ई० पू० में कश्मीर पर अधिकार हो गया और बौद्ध मत का प्रचार शुरू हुआ । उस समय कश्मीर धन-धान्य से पूर्ण था । अहिंसा के सिद्धान्त को शिरोधार्य कर बौद्ध और हिन्दू साथ-साथ रहते थे । कुछ समय तक

बौद्ध धर्म बहुत पनपा परन्तु धीरे-धीरे हिन्दू धर्म ने इसे उखाड़ फेंका। ईसा की छठी शताब्दी में जब ह्यूनसांग भारत आया, उस समय दोनों धर्मों का पतन हो रहा था। मन्दिर और विहार नष्ट हो चुके थे और कश्मीर पर हूनों का अधिकार हो चुका था। मिहिरकुल ५२८ ई० में काल की तरह इस सुवर्ण देश पर छा गया। कल्हण ने लिखा है कि मिहिरकुल बहुत ही कम हँसता था। मनोविनोद के लिए एक बार उसने पहाड़ की चोटी से एक सौ हाथियों को गिराया और उनकी चीत्कार सुनकर हँस पड़ा।

ललितादित्य

ललितादित्य मुक्तपीड़ा का शासनकाल ६९९ ई० शुरू में हुआ। वह एक महान शासक था, उसका राज्यकाल कश्मीर के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखित है। वह वर्षों ही कश्मीर से बाहर युद्ध करता रहा, और पंजाब, कन्नौज, तिब्बत, बदख्शां देशों को उसने जीत लिया। कश्मीर लौटते समय वह कन्नौज से अपने साथ सुप्रसिद्ध कवि भवभूति को लाया जिसे उसने अपना राज्य-कवि बनाया। इसने चीन के साथ राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित किया। उसने न केवल समस्त उत्तरीय भारत अपितु मकरान, तूरान, तुर्किस्तान आदि देशों को भी विजय किया।

ललितादित्य का व्यक्तित्व ही कुछ ऐसा था कि बड़े-बड़े शासक उसका आदर करते थे। अलबीरुनी ने अपनी पुस्तक में ललितादित्य की तुर्की पर विजय का वर्णन किया है। ललितादित्य और उसकी रानियों ने निर्माण-कला को प्रोत्साहन दिया जिसका सबूत हमें मार्तण्ड के सुन्दर मन्दिर और परिहासपुर (पारसपुर) के खण्डहरों में मिलता है। नहरें भी खुदवाईं और बंजर पड़ाड़ी जमीन को आबाद किया। वह किसानों को अपने पास जरूरत से ज्यादा अनाज नहीं रखने देता था, परन्तु दुर्भिक्ष के समय में संचित खाद्य-सामग्री को लोगों में बाँटता था। कल्हण ने लिखा है कि मन्दिरों के निर्माण में उसने पर्याप्त धनराशि व्यय की। चीन देश में जो अपना प्रतिनिधि मण्डल भेजा उसका वर्णन चीन के प्राचीन ग्रन्थों में भी आता है।

स्वयं हिन्दू होते हुए भी उसके मन में बौद्धमत के प्रति श्रद्धा थी। हुविश्कपुर (उश्कर) में उसी ने एक बौद्धमठ तथा सूची स्तम्भ बनवाया। जहाँ उसमें सैकड़ों गुण थे वहाँ एक अवगुण भी था। स्वभाव कुछ चिड़चिड़ा था और क्रुद्ध होकर उल्टी सीधी बात कह देता था। एक बार गुस्से में आकर उसने प्रवरसेन के बसाए हुए नगर का विध्वंस करने की आज्ञा दी। लेकिन उसके मन्त्रियों ने पास ही जंगल में आग लगा कर प्रवरसेन नगरी को बचाया। ललितादित्य की मृत्यु से अनेक कथाएँ सम्बन्धित हैं, एक के अनुसार उसकी मृत्यु ईरान में बर्फीले पहाड़ों पर हुई। दूसरी प्रचलित कथा है कि दुष्कर पहाड़ी मार्ग पर शत्रु के हाथों बन्दी बनने के कलंक से अपने को बचाने के लिए उसने आत्महत्या कर ली।

ललितादित्या का राज्य कश्मीर के लिए सुख-शान्ति का समय था। उसके बाद उसके पोते जयपीड़ा ने ७५१ से ७८२ ई० तक राज्य किया। वह भी विजयी बना और उसने अनेक पवित्र स्थान बनाए, परन्तु अन्त में बड़ा क्रूर हो गया। कारकोट वंश का शासनकाल कश्मीर के लिए शान्ति का ही समय रहा। कश्मीर ने इस काल में साहित्यिक क्षेत्र में बड़ी उन्नति की। अवन्तीवर्मन (८५५-८८३ ई०) के मन्त्री सूय्य भट्ट ने झेलम नदी के प्रवाह को बदल डाला और कश्मीर घाटी को बाढ़ के संकट से बचाया। कारकोट वंश की अन्तिम शासक महारानी दिद्दा (९८१-१००३ ई०) थी। पति की मृत्यु के पश्चात् उसने अपने वंश के सब पुरुषों की हत्या करवाई।[1] वह अत्यन्त ही कठोर हृदय और क्रूर थी।

नवीं और दसवीं शताब्दी की कहानी प्रायः ग्रह-युद्धों की ही कहानी है। बौद्धमत नवीं शताब्दी तक पनपा। कश्मीर के बड़े-बड़े विद्वानों को बौद्ध-धर्म के प्रति श्रद्धा थी। परन्तु शैवमत के प्रचार ने बौद्ध-धर्म को कीर्ति के सिंहासन से नीचे उतारा। १०१५ और १०२१ ई० में महमूद गजनवी ने दो बार कश्मीर पर आक्रमण किया परन्तु उसे सफलता न मिली। कश्मीर मुसलमानों के हाथों छल कपट द्वारा ही आया—राजनीति का यही कानून रहा है। राजा सहदेव (१३०१-१३२० ई०) के शासनकाल में तिब्बत के राजा रिंचन शाह ने कश्मीर पर चढ़ाई की और उसे विजय किया। कश्मीर के सेनापति रामचन्द्र की बेटी कोटारानी से उसने विवाह किया। उसने इस्लाम धर्म अपनाया। अन्तिम हिन्दू शासक कोटारानी थी जिसके सेनापति शाहमीर ने मारकर कश्मीर में मुसलमान राज्य की नींव डाली।

बड़शाह

मुसलमान शासकों में अधिकतर निर्दय और क्रूर थे। उनके राज्यकाल में सैंकड़ों कश्मीरी देश छोड़कर चले गए। कश्मीरी जनता निराशा के सागर में डूबी जा रही थी, जब जैनुलाबदीन 'बड़शाह' (१४२०-१४७० ई०) में आशा का दीप बनकर चमका। उसके पचास वर्ष के शासनकाल में सब ने फिर से सुख-शान्ति की साँस ली। बड़शाह ने हिन्दुओं को धार्मिक आजादी दी और उन्हें ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। जिन्होंने सरकारी नौकरी की उन्हें 'कारकुन' कहने लगे। बड़शाह स्वयं विद्वान था और उसके दरबार में विद्वान और साहित्यकार सम्मानित होते थे। मुल्लाअहमद ने उसी के राज्यकाल में महाभारत का फारसी में अनुवाद किया।

---

१. देखिए लेखक का ऐतिहासिक कहानी-संग्रह 'केसर के फूल' (आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६, मूल्य दो रुपया)

उसने कश्मीरी जनता का आर्थिक स्तर ऊँचा करने की चेष्टा की। मार, शाहकोल, लच्छमनकोल, जैनागीर आदि नहरें उसी ने खुदवाईं। इसके अतिरिक्त उसने एक बड़ी इमारत बनवाई जिसे जैनडब कहते थे। जैनापुरा, जैनापटन, जैनाकुण्डल, जैनातिलक, जैनागाम, जैनाकर, जैनाबाज़ार, जैनाकदल, जैनालंक आदि इसी महान् सुलतान के नाम पर बने हैं। अन्दरकोट से सोपुर तक जो बाँध बना है, उसका निर्माण बड़शाह द्वारा ही हुआ है। कहते हैं एक बार सुलतान बहुत बीमार हो गया और उसे श्रीभट्ट वैद्य ने स्वस्थ कर दिया। प्रसन्न होकर उसने ब्राह्मणों पर लगे कर (ज़जिया) को माफ़ कर दिया। वह युद्ध-कौशल में भी प्रवीण था। तिब्बत, पेशावर और सरहिन्द तक उसकी विजय-पताका लहराती थी। न्यायशील और दयालु तो था ही। परन्तु उसके जीवन के अन्तिम वर्ष अपने पुत्रों के पारस्परिक कलह के कारण बड़े दुखद रहे। पेपरमाशी, कालीन बनाने और शालों के उद्योग उसके समय में फिर से जारी हुए। सेब और नाशपाती के वृक्ष उसी ने ईरान से कश्मीर मँगवाए।

बड़शाह को अपनी प्रजा की भलाई का पूरा ध्यान था। जहाँ वह सुयोग्य व्यक्ति को पुरस्कृत करता था, वहाँ अपराधी को कठोर दण्ड भी देता था। इतिहासकारों वैद्यों, ज्योतिषियों आदि को उसके समय में पूरा प्रोत्साहन मिला। खुरासान से रेशम के कीड़े मँगवा कर उसने रेशम का उद्योग चलाया। इस काल में कश्मीर ने प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति की। बड़शाह की कीर्ति और यश के गीत आज भी कश्मीर के बच्चे-बच्चे की जबान पर हैं।

मुग़ल

समय ने फिर पलटा खाया। अन्य मुसलमान शासकों ने बड़शाह की करनी पर पानी फेर दिया। उनकी आपस की फूट के कारण देश में अशान्ति फैली। चकवंश के शासन-काल में भारत से मुग़ल सम्राटों के आक्रमण होते रहे। अकबर ने १५८६ ई० में यूसुफ शाह चक को हराकर कश्मीर पर अधिपत्य जमा लिया। अकबर के महान् व्यक्तित्व और बुद्धिमता से अशान्ति और अन्याय का तूफान रुक गया। उसने हिन्दुओं पर लगे ज़जीये कर को हटा दिया और उन्हें ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। अकबर के दरबार में पीर, मुल्ला और ब्राह्मण को एक-सा सम्मान प्राप्त था। श्रीनगर में हारीपर्वत का दुर्ग उसी के समय में बना। उसके वित्त मन्त्री बीरबल ने कश्मीर की सारी भूमि को नापा और नए सिरे से लगान मुकर्रर किया।

१६०५ ई० में राज्य की बागडोर अकबर के सौन्दर्य-प्रेमी पुत्र जहाँगीर के हाथ में आ गई। कश्मीर की सुन्दरता जहाँगीर के रोम-रोम में बस गई थी। मरते समय भी उसके मुँह पर कश्मीर का ही नाम था। उसने चश्माशाही, शालामार आदि उद्यानों का निर्माण किया। नसीम बाग़ और वेरनाग भी उसी ने बनवाए।

इन उद्यानों के गुलाबों और अन्य पुष्पों की बिक्री से सम्राट् को एक लाख रुपये की आय होती थी। जहाँगीर और नूरजहाँ ने आठ बार कश्मीर-यात्रा की और असंख्य धनराशि लुटाकर कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य को चार-चाँद लगा दिए।

शाहजहाँ (१६२८-१६५७ ई०) अपने पिता की प्रतिमूर्ति था। अपनी योग्यता तथा महानता से उसने अपना नाम उज्ज्वल किया। उसके समय में कुछ मुसलमानों ने हिन्दुओं पर अत्याचार किए, परन्तु उन्हें यथोचित दण्ड दिया गया। शाहजहाँ न्यायशील और विशाल-हृदय था। उसका समय हिन्दुओं के लिए सुख-शान्ति का युग था और उन्होंने साहित्यिक, राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में उन्नति की।

औरंगजेब (१६५८-१७०७ ई०) ने अपने बाप-दादा की करनी पर पानी फेर दिया। उसे न तो सौन्दर्य के प्रति कोई रुचि थी और न ही प्राकृतिक दृश्यों के प्रति कोई आकर्षण था। हिन्दुओं पर उसने फिर से कर लगा दिए और उनसे कटु-व्यवहार किया। औरंगजेब के बाद मुगल साम्राज्य का पतन हुआ। हिन्दुओं की धार्मिक स्वतन्त्रता को भी छीन लिया गया।

अफ़गान सुलतान अहमदशाह दुर्रानी के नेतृत्व में १७५२ ई० में विपत्ति के बादल बनकर कश्मीर पर छा गए। दूषित वातावरण में जनता घुट कर दम तोड़ने लगी। उस समय पंजाब में सिक्खों की शक्ति बढ़ रही थी। रणजीतसिंह के नेतृत्व में सिक्खों ने दो बार कश्मीर पर आक्रमण किया परन्तु पराजित होकर लौट गए। एक वीर कश्मीरी पंडित बीरबल दर ने अपने पर किए अत्याचार और अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए लाहौर जाकर सिक्खों से मदद माँगी। शुपैयान में १८१९ ई० में पठानों और सिक्खों में घमासान युद्ध हुआ। पठान मैदान छोड़कर भाग गए और कश्मीर सिक्खों के हाथ आ गया। रणजीतसिंह अनपढ़ होते हुए भी एक योग्य शासक था। उसकी एक आँख में ज्योति नहीं थी, फिर भी युद्ध-कौशल में प्रवीण था।

सिक्ख गवर्नरों का शासन कड़ा था। १८३१ ई० में कश्मीर में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा, जिसकी लपेट में बहुत लोग आ गए। कुछ देश छोड़कर भाग गए। शेरअहमद भामा के साथ सिक्खों का जो युद्ध हुआ उसने सिक्खों की शक्ति का ह्रास किया। असंख्य प्राणी १८२७ ई० के भूकम्प और हैजे की बीमारी के शिकार हो गए। सिक्खों ने जो पठान गवर्नर यहाँ नियुक्त किए उन्होंने मुसलमानों को भी अन्याय की चक्की में पीस डाला। सिक्ख शासक न्यायशील नहीं थे। अपने लाभ के लिए उन्होंने यहाँ के शाल उद्योग को प्रोत्साहित किया।

डोगरा शासक

मुसलमानों के शासनकाल में डोगरा राजपूत तितर-बितर हो गए, और उनका सैनिक बल कम हो गया। मुगलों के पतन के साथ-साथ राजपूतों का संगठन

शुरू हुआ। गुलाबसिंह के नेतृत्व में उन्होंने फिर से अपनी धाक जमाई। गुलाबसिंह सिक्ख शासक रणजीतसिंह की सेना में मामूली सिपाही की हैसियत से भरती हुआ। उसने सिक्खों की बड़ी ईमानदारी से सेवा की। उस सेवा के बदले में रणजीतसिंह ने उसको जम्मू प्रान्त की भेंट की और राजा की उपाधि दी। उसे अपनी सेना आदि रखने की भी आजादी मिली। उसके भाई ध्यानसिंह को पुँछ का इलाका मिला और दूसरे भाई सुचेतसिंह को रामनगर की रियासत मिली। कुछ समय बाद गुलाबसिंह लद्दाख और बलतिस्तान को विजय कर कश्मीर के आसपास के सीमान्त-प्रदेशों का राजा बन बैठा।

सिक्खों और अंग्रेजों के बीच जो पहली लड़ाई हुई, उसमें गुलाबसिंह ने भाग नहीं लिया। उसने सिक्खों को युद्ध न करने की सलाह दी थी। सन् १८४६ ई० में सुबराऊँ की लड़ाई के पश्चात् गुलाबसिंह ने सिक्खों और अंग्रेज़ों में सन्धि करवा दी। सिक्खों ने एक करोड़ रुपया लेकर सिन्धु और व्यास नदी के बीच का पहाड़ी प्रदेश अंग्रेजों के हवाले किया और ७५ लाख रुपया देकर कश्मीर घाटी गुलाबसिंह को मिली।

गुलाबसिंह परम वीर था, और भारत के मुख्य विजेताओं में उसका नाम आता है। उसने दुर्गम पहाड़ी मार्गों पर से सेना को ले जाकर सीमान्त प्रदेशों को जीत लिया और निपुणता से पहाड़ी लोगों को परास्त किया। तिब्बत, चिलास और गिलगित आदि स्थान कई वर्ष लड़ाइयाँ लड़ने के पश्चात् उसके हाथ आए। साहित्य रचना तो उसके राज्यकाल में हुई, लेकिन कला का स्तर नीचे आ गया। उसने अपनी आय बढ़ाने के लिए बुनकरों पर कर लगवाए और इस तरह शालों के उद्योग को बर्बाद कर दिया। सिक्खों के समय में कश्मीर की शासन-प्रणाली बहुत बिगड़ चुकी थी। उसे सुधारने का काम भी मुश्किल था। लोगों से बेगार ली जाती थी, सती-प्रथा प्रचलित थी और देश भर में डाकुओं का आतंक छाया था। गुलाबसिंह ने अशान्ति दूर की और अनेक राजनैतिक सुधार किए।

गुलाबसिंह सुयोग्य शासक तो था ही, राजनीति की चालों से भी अनभिज्ञ न था। उसने मध्यस्थ बनकर सिक्खों और अंग्रेजों के बीच सन्धि करवाई। उसी के बदले में अंग्रेजों ने सारी कश्मीर रियासत ७५ लाख रुपये में उसे बेच दी। कश्मीर को हाथ से जाने देने पर उन्हें हमेशा पश्चाताप करना पड़ा है। १८५७ ई० में ६६ वर्ष की आयु में गुलाबसिंह की मृत्यु हुई। उसके बाद उसके पुत्र रणवीरसिंह ने गद्दी सम्भाली। उसने गिलगित आदि सीमान्त प्रदेशों में विद्रोह शान्त कर डोगरा राज्य की नींव को सुदृढ़ किया। किन्तु इसके शासन के अन्तिम वर्षों में भीषण दुर्भिक्ष की स्याही ने कश्मीर के सौन्दर्य को ढक लिया, और सहस्रों प्राणी काल के ग्रास हुए। अंग्रेजों का स्थाई अधिकारी (रेजीडेण्ट) १८८५ ई० में पहली बार कश्मीर आया

और अपना दफ्तर स्थापित किया। उसी वर्ष राज्य की बागडोर रणबीरसिंह के न्यायशील पुत्र प्रतापसिंह के हाथ आ गई। उसका चालीस वर्ष का शासन सुख और शान्ति का युग था। उसने रियासत में कालिज और स्कूल खोले, बिजली और पानी का इन्तजाम किया। हुंजा, नगर तथा चित्राल सीमान्त रियासतों पर भी विजय प्राप्त की। निःसन्तान मर जाने के कारण उनका भतीजा महाराजा हरीसिंह राज्य का अधिकारी बना।

राष्ट्रीय आन्दोलन

भारत में स्वतन्त्रता का आन्दोलन जोरों पर था और कश्मीर में सर्वप्रथम १९३१ ई० में लोकराज की माँग लेकर जनता शासन के विरुद्ध उठ खड़ी हुई। तभी मुस्लिम कान्फ्रेन्स का जन्म हुआ। कुछ वर्ष पश्चात् शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में इसका नाम बदल कर नैशनल कान्फ्रेन्स रखा गया, और इस तरह क्रान्तिकारियों का एक मजबूत दल बन गया। महाराजा ने जन-आन्दोलन का दमन करने का पूरा प्रयत्न किया और कई बार नैशनल कान्फ्रेन्स के नेताओं को कारावास दिया। परन्तु दिन प्रतिदिन स्वतन्त्रता की माँग बढ़ती ही गई।

१९४७ ई० में भारत के विभाजन के पश्चात् कश्मीर के इतिहास ने फिर पलटा खाया। पाकिस्तान तलवार के जोर से कश्मीर को अपने साथ मिलाना चाहता था। उसने कबाईली पठानों को कश्मीर पर आक्रमण करने के लिए उकसाया और उनकी सहायता की। कश्मीर के महाराजा ने तुरन्त भारत से शामिल होने का बन्धपत्र लिखा, जिससे कश्मीर भारत का अटूट अंग हो गया। कश्मीरी जनता जो शान्तिपूर्वक ढंग से राज्य पाने की आशा में थी, एक नई आपत्ति का शिकार हो गई। कबाईली पठानों और पाकिस्तानी सैनिकों ने घाटी में लूट-मार की। वे मारते-काटते श्रीनगर तक पहुँच गए थे, और यदि भारतीय सेना तुरन्त न आ पहुँचती तो श्रीनगर को बचाना मुश्किल था। भारतीय सेना और पाकिस्तान के बीच जोरों का युद्ध हुआ और पाकिस्तानियों को पीछे ही धकेल दिया गया।

भारत सरकार ने १९४८ ई० में संयुक्त राष्ट्र संघ से प्रार्थना की कि वह पाकिस्तान को फौजें हटाने पर मजबूर करे। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा पहली जनवरी १९४९ ई० को दोनों ओर से युद्ध बन्द कराने का फैसला कराया गया। लेकिन यह मामला अभी तक वहीं लटक रहा है। लोकराज्य की स्थापना के बाद कश्मीरी उन्नति की ओर बढ़ने लगे। प्रधान मन्त्री शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में कश्मीर सरकार ने किसानों में जमीन मुफ्त बाँटने का सुधार किया, जिससे किसानों की बिगड़ी दशा बहुत हद तक सुधर गई।

परन्तु धीरे-धीरे शेख अब्दुल्ला आजाद कश्मीर का स्वप्न देखने लगा। वह भारत से सम्बन्ध तोड़कर किसी विदेशी मुल्क से जोड़ना चाहता था। कश्मीर को

स्वतन्त्र रखने की उसने घोषणा भी की थी। राज्यपाल (सदर-ए-रियासत) श्री कर्णसिंह ने शेख अब्दुल्ला को ९ अगस्त, १९५३ ई० को प्रधान मन्त्री के पद से हटाकर उसे नज़रबन्द किया, और बख्शी गुलाम मुहम्मद को प्रधान मन्त्री का पद सौंपा। तब से राजनैतिक सामाजिक, और आर्थिक क्षेत्र में कश्मीरी जनता और आगे बढ़ती आ रही है।

६

मुगलों के बाग
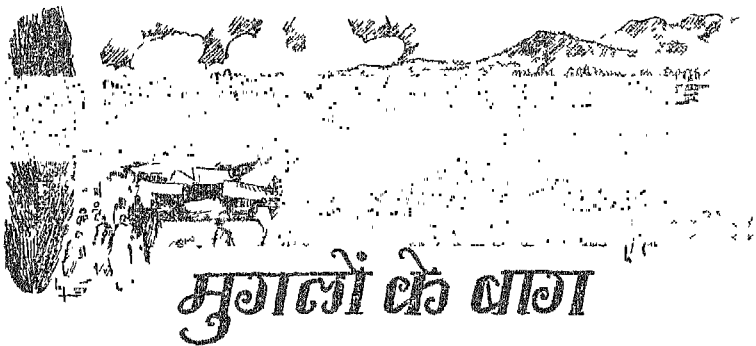
कश्मीर मुगल शासकों का चिर ऋणी रहेगा, जिन्होंने सुरम्य बाग बनाकर यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य को गौरवान्वित किया। इस घाटी से उन्हें इतना प्रेम था कि वे अपने राज्य के अन्य किसी हिस्से को इतना महत्त्व नहीं देते थे। आमोद-प्रमोद का इच्छुक शाहजहाँ तो इसकी रमणीयता से इतना प्रभावित हुआ था कि वह प्रति वर्ष कश्मीर यात्रा करता था। एक बार जब वह अस्वस्थ था और कश्मीर न जा सका तो फ़ारसी का यह शेर बोला—

खुर्द गुंदुम आदम अज जन्नते कशीदनवश बरों,
मन कि खुर्दम आबे जौ या रब कश्मीर रवाँ।

"आदम को गेहूँ खाने पर बहिश्त से निकाला गया था, मैंने केवल जौ का पानी ही पिया है—या रब ! मुझे कश्मीर ही भेज दे।"

शाहजहाँ के पिता जहाँगीर ने भी कुछ ऐसे ही मनोभाव प्रकट किए हैं—

अगर फिरदौस बर रोये जमीं अस्त,
हमीं अस्तो, हमीं अस्तो, हमीं अस्त।

"अगर दुनिया में कहीं स्वर्ग है—यहीं है, यहीं है।"

मुगलों के बाग श्रीनगर के पास ही डल सरोवर के किनारे ऊँचे पहाड़ों के दामन में स्थित हैं। नौका में बैठकर एक ही दिन में इन सब की सैर की जा सकती है। इनकी विशेषताओं को समझना और निर्माण योजना तथा स्थिति पर ध्यान देना आवश्यक है। बाग काफ़ी लम्बे, चौड़े हैं और अकसर बारादरियों (छोटे-छोटे समतल

चबूतरों) में बटे है। इन सब बागों से डल झील का नजारा बहुत सुहावना लगता है एक कवि ने सच ही कहा था—

सुबह दर बाग निशातो, शाम दर बागे नसीम,
शालामारो, लालाजारो, सैरि कश्मीर अस्तो बस्त।

सुबह निशात में, शाम नसीम बाग में, शालामार तथा लाला के फूलों व वाटिकाएँ- बस यही तो कश्मीर में देखने योग्य चीजे हैं, और कुछ नहीं।

छुट्टी के दिन इनमें बहुत लोग टहलते नजर आते है। किसी-किसी दिन इतना जमघट होता है कि तिल धरने को जगह नहीं मिलती। प्रमुख मुगल बागों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

चश्मा शाही

श्रीनगर से अगर शिकारा में बैठकर मुगल बागों की सैर को चले तो चश्म शाही पहले आता है। इस बाग का निर्माण एक ठंडे और मीठे पानी के चश्मे के गिर्द किया गया है, और बीचोंबीच आबशरें बनाई गई हैं और फव्वारों की पंक्तियां क्रीड़ा करती हुई नजर आती हैं। बाग की लम्बाई करीब ३३६ फीट और चौड़ा १२६ फीट के करीब है, और चारों ओर ऊँची दीवार से घिरा हुआ है। इसकी ती बारहदरियाँ है और चश्मे का पानी इसके ठीक बीच में से होता हुआ १६ फीट की ऊँचाई से प्रपात के रूप में गिरता है। इस बाग को शाहजहाँ के आदेश से कश्मीर के गवर्नर अली मरदान खाँ ने १६४२ ई० में बनवाया था। यह श्रीनगर से केवल चार मील की दूरी पर, जबरवन पर्वत के अंचल में काफी ऊँचाई पर स्थित है।

निशात
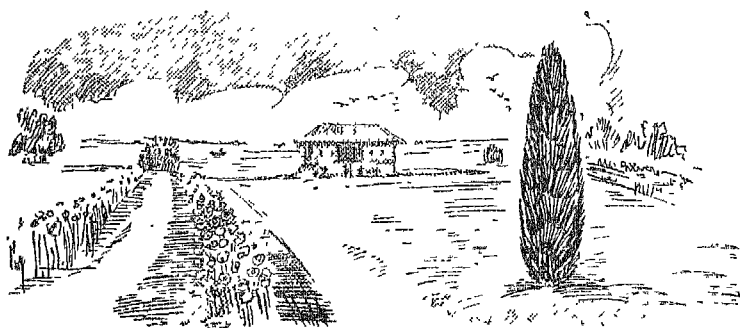
श्रीनगर से सात मील दूर, यह मुगल बागों में सर्वश्रेष्ठ है। इसे शाहजहाँ के गवर्नर आसफजाह ने १६३० ई० में बनवाया था। यह बाग १७८५ फीट लम्बा औ ११०७ फीट चौड़ा है, और सात बारहदरियों में बटा हुआ है। तीसरी, चौथी औ
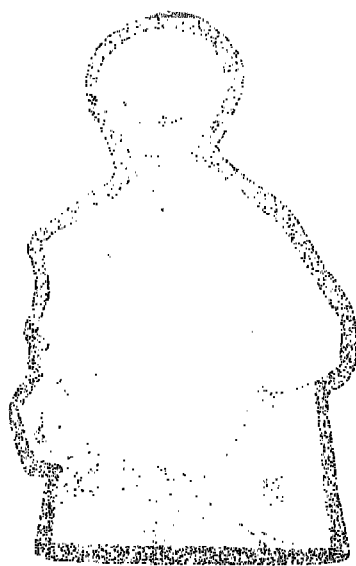
८. कश्मीरी मुसलमान

९. निशातबाग का एक दृश्य

पाँचवीं बारहदरी अन्य बारहदरियों से बड़ी हैं और एक दूसरे से करीब १८ फीट ऊँची हैं। बाग के बीचोंबीच तालाबों की पंक्ति और छोटे-छोटे जलाशय एक दूसरे के साथ नहर द्वारा मिले हुए हैं। यह तालाब काले चिकने पत्थरों के बने हैं और चारों ओर से फूलों की छोटी-छोटी क्यारियों से आभूषित हैं। तालाबों तथा नहर के अन्दर सैकड़ों फव्वारे हैं जो बाग की शोभा बढ़ाते हैं। कुछ फव्वारे १० फीट ऊँचे हैं और पानी की फुहार दूर तक हवा में फेंक देते हैं। आस-पास बैठने के लिए हरी-हरी घास के मैदान हैं।

बाग के अन्दर मुगल काल में ही बने हुए दो मण्डप हैं, एक प्रवेश द्वार के पास और दूसरा सातवीं बारहदरी पर। निचला मण्डप दुमंजिला है और शिलाओं की नींव पर बना हुआ है लेकिन निर्माण में लकड़ी का अधिक प्रयोग किया गया है। इसका निचला फर्श ५६ फीट लम्बा और ४८ फीट चौड़ा है। बीच में एक जलकुण्ड है जो १४ वर्ग फीट की जगह घेरे हुए है। इसके अन्दर भी फव्वारे हैं।

दूसरा मण्डप एक मंजिला ही है। इसके फर्श की लम्बाई ४३ फीट, चौड़ाई २० फीट और ऊँचाई ३० फीट है। यह लकड़ी के लाल खम्बों पर निर्मित है और इसके पास की बारहदरी में एक बड़ा कुण्ड १२३ फीट लम्बा और १०२ फीट चौड़ा और चार फीट गहरा है। इसमें खेलते हुए २५ फव्वारों का नजारा देखने योग्य है। चिनार के विशाल वृक्ष, सरो के पेड़ और भाँति-भाँति की लताएँ बाग की शोभा बढ़ाते हैं। पानी की नहर सातों बाराहदरियों के बीच से होकर जाती है और कई आबशारों के रूप में गिरती हैं।

उद्यान के द्वार में प्रवेश करते ही कैलीनड्ला की पीली क्यारियाँ वासन्ती रूप छवि से दर्शकों को वशीभूत कर लेती हैं। गुलाब के रंग-बिरंगे फूलों से भरी हुई क्यारियों के बाद अनेक फूल हँसते दिखाई देते हैं। मखमल से भी मुलायम दूब तो मानो इस बाग के प्राण हैं। छोटे-छोटे सरोवरों के चारों ओर नीले-पीले फूल झाँक-झाँककर सरोवरों के जल में अपना प्रतिबिम्ब निहारकर झूमने से लगते हैं। इसके अतिरिक्त उद्यान की पुष्प-वीथियों के किनारे गेंदे अपनी छवि से उद्यान की शोभा में चारचाँद लगा देते हैं। इस वातावरण पर कौन ऐसा अभागा होगा जो मुग्ध न हो जाय। उद्यान की अन्तिम बाराहदरी इतनी दर्शनीय है कि इसे देखकर 'नन्दन कानन' की शोभा स्मरण हो आती है।

शाहजहाँ ने जब १६३३ ई० में इस बाग का निरीक्षण किया, तो अपने गवर्नर आसफजाह से इसकी प्रशंसा की। उसका विचार था कि इतना कहने पर आसफ़जाह उसको बाग की भेंट करेगा। लेकिन उसे यह बाग अपने प्राण से भी प्यारा था, उसने सम्राट् के कहने पर कोई ध्यान नहीं दिया। नाराज होकर शाहजहाँ

ने उस नहर को काटने का आदेश दिया जो निशात को सींचती थी।[1] धीरे-धीरे निशात उजड़ गया। फव्वारे बन्द हो गए और फूल मुर्झाकर सूख गए। आसफजाह का जीवन-तार जैसे टूट गया, लेकिन वह सम्राट् की आज्ञा का उल्लंघन कैसे कर सकता था। एक दिन उसके एक नौकर ने उसकी शोकाकुल हालत को देखकर रात के अन्धेरे में नहर का पानी निशात की ओर फेर दिया। प्रातः जब आसफ़जाह ने पूछ-ताछ की तो उसे अपने नौकर की गलती का पता चला। तुरन्त ही शाहजहाँ ने आसफजाह और उसके नौकर को बुलाया। नौकर ने हाथ जोड़कर अपना अपराध स्वीकार किया और कहा कि मालिक का दुख उससे सहा नहीं जाता था। उसे मालूम था कि सम्राट् की आज्ञा का उल्लंघन करने का क्या दण्ड मिलना लेकिन उसने क्षमा-याचना नहीं की। नौकर की सच्ची भावना और स्वामीभक्ति देखकर शाहजहाँ ने उसे क्षमा किया और आसफ़जाह की एक सनद दी जिसमें उसे हमेशा के लिए नहर के पानी से निशात की सिंचाई करने की आज्ञा दी।

शालामार

हस्त अगर दरेआलम ऐशोतरब खल्दे बरीन,
फैज बख्श अस्त व फ़रह् बख्श अस्त बरोय जमीन।

"अगर स्वर्ग में कहीं खुशी और ऐश्वर्य है, पृथ्वी पर या फरह् बख्श या फैज बख्श दो स्थानों में है।" ये शब्द कश्मीर के मुग़ल गवर्नर जब्बारखाँ ने १६३० ई० में कहे जब उसने शालामार बाग़ को विस्तृत किया था। बाग़ का पहला हिस्सा फरहबख्श कहलाता था और जो हिस्सा गवर्नर ने बनवाया उसे फैजबख्श कहते थे। परम्परागत कथा के अनुसार शालामार को प्रवरसेन द्वितीय (११०-१७० ई०) ने बनाया था। राजा अकसर अपने गुरु सुकर्मस्वामी के पास जाता था, जिसका हारवन में आश्रम था। रास्ते में यहाँ एक छोटे से मकान में विश्राम करता था। समय के साथ वह इमारत और बाग दोनों नष्ट-भ्रष्ट हो गए। १६१६ ई० में मुगल सम्राट् जहाँगीर ने इसी स्थान पर डल के किनारे सुन्दर बाग का निर्माण किया।

शालामार बाग डल झील के साथ एक नहर से मिला हुआ है, जो ३५ फीट चौड़ी और मील भर लम्बी है। नहर के दोनों ओर छायादार चिनार और बेद के वृक्ष लगे हैं। झील की ओर से नहर का प्रवेश-मार्ग अब टूट चुका है लेकिन वहाँ पत्थर के बड़े-बड़े खम्बे और खण्डहर प्राचीन गौरव की याद दिलाते हैं।

बाग १७७० फीट लम्बा और ६२१ से ८०१ फीट तक चौड़ा है, और बारहदरियाँ इसकी भी विशेषता हैं। बाग के बीच छोटे सरोवरों की एक पंक्ति है

---

[1] देखिए लेखक की 'केसर के फूल' (कश्मीर की ऐतिहासिक कहानियाँ) प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

जिनका पानी नहर द्वारा आता है। नहर २ फीट से अधिक गहरी नहीं होगी लेकिन २७ फीट से ४२ फीट तक चौड़ी है। तालाब और नहर चमकीले पत्थरों से बने हैं जो काले संगमरमर जैसे लगते हैं। फव्वारों की कमी ही क्या। नहर का पानी हारवन जलाशय से आता है जो यहाँ से दो मील की दूरी पर स्थित है। इसी का पानी बाहरी नहर से होता हुआ डल सरोवर में जा गिरता है।

चौथी बारादरी के मध्य में एक काले पत्थरों से बना मण्डप है जो ६५ वर्ग फुट चबूतरे पर स्थित है। मुगलों के जमाने में यह 'हरम' की महिलाओं के लिए ही अलग रखा जाता था। इसकी ढलान छत २० फीट ऊँची है और काले पत्थर के स्तम्भों की पंक्तियाँ उसे सहारा देती हैं। इनकी चिकनाहट को देखकर अक्सर लोग यही सोचते हैं कि यह काले संगमरमर के बने हुए हैं। वास्तव में इनमें काले बलुवा पत्थर का ही प्रयोग किया गया है, जो कश्मीर में उपलब्ध हैं। मण्डप बड़े जलकुण्ड के बीच स्थित है जिसका विस्तार ५२ वर्ग गज है। इसके बीच १४० बड़े फव्वारे हैं।

मुगलों के समय में जब भी यहाँ कोई आनन्द-समारोह होता था तो रात को सारा बाग दीपमालिका से जगमग हो उठता था। पं० आनन्द कौल ने लिखा है कि चाँदी के बने हुए मेंढक चाँदी के तार से बाँध कर पानी में डाले जाते थे। उनकी बनावट में कुछ ऐसी विशेषता थी कि पानी के प्रवाह से वे असली मेंढकों की तरह टर-टर शब्द करते थे। पर्व के पश्चात् बाग का माली इन्हें गड्ढे में डाल देता था ताकि चोरी न हों। उस माली की मृत्यु कुछ ऐसी परिस्थिति में हुई कि वह उस गुप्त स्थान का पता किसी को न बता सका। अनुमान है कि अब भी वह बहुमूल्य चीजें इसी बाग के अन्दर छिपी पड़ी होंगी।

जब नूरजहाँ सम्राट् जहाँगीर के साथ इस सुरम्य उद्यान में विचरती होंगी, तो लगा होगा प्रत्येक फूल नृत्य कर रहा है। वह मस्ती लाने वाला दृश्य मेरी कल्पना से परे है। उन्होंने अपने हाथों चिनार के पेड़ लगाए, किन्तु उनकी छाया में विश्राम न कर सके। चिनार को यौवनावस्था तक पहुँचते सदियाँ लगती हैं, उसके निकट मानव जीवन की अवधि ही क्या।

नसीम बाग

श्रीनगर से आठ मील दूर डल झील के किनारे हज़रतबल ज़ियारत के पास शाहजहाँ का ब[illegible]। [illegible] में इसे चिनार-वाटिका ही कहना चाहिए, क्योंकि [illegible] यमान करते हैं। शाहजहाँ ने इसमें १,२०० चिनार [illegible] और पानी से सींचा जाता था। इसके बारे में एक फारसी कवि ने कहा है—

दरे जहाँ चूं बहुकमे शाहजहाँ,
दाहदे ताजा अज नईम आमद ।
कर्द गुलशस्ते आँबु शाहेजहाँ,
बुलबुल अज शाखगुल कलीम आमद ।
गुफ्त तारीखे दवहले शाही,
अज बहिश्ते अदन नसीम आमद ।

'जब शाहजहाँ की आज्ञा से इस नये बाग का निर्माण हुआ तो सम्राट् एक दिन बाग की सैर को चले । कुसुमित टहनी पर बैठी हुई बुलबुल ने कहा—इस बाग की तारीख सुन लो कि अदन के बहिश्त से हल्की हवा चली है ।' पिछली पंक्ति का मतलब है कि इसे १०४५ हिजरी या १६३५ ई० में तैयार किया गया था ।

अछाबल

अछाबल बाग अनन्तनाग से सात मील की दूरी पर स्थित है और पानी के बहुत बड़े चश्मे के कारण भी प्रसिद्ध है । इस स्थान का नाम 'अक्षवल' था और निर्माण अक्ष राजा ने ५७१-६३१ ई० के बीच किया था, राजतरंगिनी में ऐसा लिखा है । पहाड़ की ढलान पर चश्मे का पानी कई स्थान से छूटता है । एक स्थान पर छिद्र इतना बड़ा है कि मनुष्य तैरकर अन्दर जा सकता है ।

नूरजहाँ ने जब १६२० ई० में अछाबल की सैर की, तुरन्त उसके मन में बाग को विस्तृत करने का विचार उठा । उद्यान का निर्माण हुआ और नाम बेगमाबाद और साहीबाबाद पड़ा । यह बाग ४६७ फीट लम्बा और ४५ फीट चौड़ा है और पत्थर की फसील से चारों ओर घिरा हुआ है । फूलों की बहुतायत है । चश्मे का पानी नहर द्वारा बाग में से गुजरता है । इसको आबशारों द्वारा गिराया गया है । बाग के बीच की आबशार बड़ी है और १२ फीट की ऊँचाई से गिरती है । अछाबल में ट्राऊट मत्स्य-केन्द्र भी है ।

बर्नियर जिसने १६६३ ई० में कश्मीर यात्रा की, इस उद्यान के बारे में कहता है—'सुन्दाबारी से लौटते समय मैं अछाबल की ओर हो लिया, ताकि इस उद्यान को देख सकूँ जो विलासी मुग़ल सम्राटों को प्रिय है । इसकी विशेषता एक बड़ा चश्मा है और एक फव्वारा । फव्वारा इतना बड़ा है कि दूर-दूर तक पानी फेंकता है । चश्मे का पानी कई नहरों से होकर बहता है । पानी स्वादिष्ट है और बहुत ठंडा, इतना कि हाथ नहीं डाला जा सकता ।'

वेरनाग

वेरनाग (वेरीनाग) बानिहाल पहाड़ के दामन में काजीगुण्ड से १० मील की दूरी पर स्थित, झेलम नदी का स्रोत है । इसके महत्त्व को जहाँगीर ने पहचाना और

चश्मे की हालत को सुधारा। इसके चारों ओर नक्काशी किए हुए पत्थरों का अष्टकोण तालाब बनाया, और पास ही सुन्दर उद्यान लगाया। इसका निर्माण १६२० ई० में हुआ था। जहाँगीर की मृत्यु के बाद उसके बेटे शाहजहाँ ने यहाँ से एक नहर निकाली जो बाग़ के बीचोंबीच गुजरती है। उसमें फव्वारे भी लगवाये। बाग़ के बाहर एक हमाम भी बनवाया, जो अब नष्ट हो चुका है। चश्मे के गिर्द की दीवार पर इसकी प्रशंसा में फारसी कविताएँ लिखी हैं, जिन्हें पढ़ने से इसके निर्माण काल का ठीक-ठीक पता चलता है।

इनके अतिरिक्त मुग़लों के और कई बाग़ हैं, किन्तु उनका विवरण देना सम्भव नहीं। उनमें हब्बक, इलाही बाग़, बाग़ मुल्लाशाह, दारा महल, इनायतबाग़, चार चिनार तथा बिजबिहारा देखने योग्य हैं।

झरने गाते हैं

अछाबल गछि डबि जागै मदनो,
यी वपहम तीय तीय लागयो ।
मारनस अमि शकरलबि कोरनम बेदाद,
अछावलचे गछि डलि दिमसै फरियाद ।
अछाबलचे गछि प्यठ दिमसै नालो-फरियाद,
कोह छाड़िथ खना मेल्यम शीरीन शाह फरहाद ।

"प्रियतम ! मैं अछाबल की पलस्तर की हुई परछत्ती में बैठ तुम्हारी राह देख रही हूँ । तुम जिस फूल की चाह करोगे, अर्पण करूँगी । प्रियतम ! तुम निर्मोही हो, तुमने मुझे दुख दिया । तुम्हारे लिए पहाड़ों पर फिरी, क्या अब मिलोगे, जैसे शीरीन को फरहाद मिला था ।"

अछाबल के रम्य उद्यान में एक सुन्दरी रो रही है । उसके प्रेमी ने उसे आश्वासन देकर तिरस्कृत किया है । प्रेमिका विरह से व्याकुल है, लेकिन अपनी वेदना के भाव प्रकट भी करना चाहती है । आँखों से अश्रुधारा टप्-टप् गिरती है, और रोते-रोते हिचकी बँध गई है । इसी असहाय अवस्था में उसे याद आता है कि

सदियों पहले भी एक रूपसी को उसका प्रियतम छोड़ कर चला गया था। तब वह उसी रूपसी के प्रेम-विह्वल गीत में अपना आलाप मिलाकर तनिक संतोष प्राप्त करती है। ऐसी ही विह्वलता का प्रकटन अन्य कश्मीरी बालिकाएँ करती हैं, जब कामदेव के तीर उनके दिल पर आघात करते हैं। ऐसे आकर्षक वातावरण में प्रेम की भावनाएँ जागृत क्योंकर न हों? यहाँ सारी सृष्टि प्रेममय हो गई है।

वास्तव में कश्मीरी लोगों के जीवन का कोई पहलू ऐसा नहीं है, जिसकी अच्छाई-बुराई को अज्ञात लोक-कवियों ने अपनी लोकप्रिय रचनाओं का विषयवस्तु न बनाया हो। चरवाहे अपने पशुओं को चराते समय उनकी प्रशंसा में गीत गाते हैं। किसान फसलों के काटते समय गीतों का आलाप करते हैं। पथिक राह चलते अपने घर की याद में मग्न घरेलू जीवन के गीत गुनगुनाते हैं। कभी प्रेयसी अपने प्रियतम को मनाती है, तो कभी प्रेमी प्रेमिका को, या दोनों विरह से व्याकुल होकर पुकारते हैं। कश्मीरी लोक-गीतों का असीम भण्डार है। न केवल इस भूमि के प्राकृतिक दृश्य ही कविता का नमूना उपस्थित करते हैं, बल्कि कश्मीरी जीवन भी स्वयं एक जीता-जागता काव्य है।

कश्मीर की पुरातन परम्परा, रीति-रिवाज तथा लोकोक्तियाँ इन लोक-गीतों में परिरक्षित हैं। प्रत्येक ग्रामीण कुटुम्ब में इन सुन्दर गीतों के गाए जाने का रिवाज है। ब्याह-शादी के अवसर पर गाए जाने वाले गीतों का अन्य कहीं वर्णन किया गया है। लोक-गीतों को नृत्य-गीत, नाटक-गीत, गोप-काव्य, प्रेम-प्रलाप के गीत, क्रीड़ा-काव्य तथा रहस्यमय कविता में ही श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त इन लोकप्रिय गीतों का उच्चारण बच्चों को लोरी सुनाते हुए उनकी माताएँ करती हैं। बूढ़े की मृत्यु पर शोकपूर्ण गीत 'वन' भी गाए जाते हैं।

लोक-गीतों का कश्मीरी ग्राम्य जीवन से इस प्रकार सम्मिश्रण हो गया है कि इनके बिना उनके जीवन का कोई महत्त्व नहीं रहता। इनकी धार्मिक तथा सामाजिक परम्परा इन्हीं गीतों में संरक्षित है, जिनसे इनको पृथक् करना पेड़ को समूल निकाल फेंकने के बराबर ही होगा। लोक-गीतों का ब्यौरा मैं इस लेख में दूँगा।

लोक-गीतों के आरम्भ-काल के विषय पर अपनी कल्पना के घोड़े दौड़ाना ऐसा ही है, जैसा सृष्टि के उद्गम के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना। यह उतने ही पुराने हैं, जितने कश्मीरी लोग; हाँ, समय के साथ-साथ इनमें कुछ सुधार हुए और नई रचनाओं से इनके कोष में वृद्धि हुई। गाँव-गाँव में घूमने-फिरने वाले पेशावर गायक 'दारा' वाद्ययन्त्र की छन-छन में आलाप मिलाते हुए, इन गीतों का उच्चारण करते आए हैं। दारा एक साधारण-सा यन्त्र है—लोहे की बालियों को लोहे की छड़ी में डाल दिया जाता है, जिन्हें हाथ से हिलाने से छन-छन ध्वनि होती है। वास्तव में लोक-गीतों के परिरक्षण का श्रेय इन्हीं ग्रामीण गायकों को हासिल है,

जिन्होंने इस परम्परा को जारी रखा है। बड़े उत्सवों पर नाच (बच नगमा) मण्डलियाँ शहरों में गाती फिरती हैं और नागरिकों को इन गीतों का रसास्वादन कराती हैं। इन गीतों की जनसमुदाय को आमोदित करने की योग्यता के कारण ही बहुत से ग्रामीणों का पेशा गाने का हो गया है। मजेदार बात है कि पुरुषों में स्त्री का अभिनय करने की शक्यता है।

केसर कश्मीर की एक सुन्दर उपज है, और इस पर कई लोक-गीत आधारित हैं—

यार द्रायोम पांम्परि वत्ये,
कोंग पोषण रोट तत्थे।...

"मेरा साथी पाम्पुर चला, लेकिन रास्ते में केसर के फूलों ने उसका आलिंगन किया। हाय ! वह तो वहाँ पर है, और मैं यहाँ ! या रब ! कब मैं उसका मुँह देख सकूँगी।"

या एक सुन्दर ग्रामीण बालिका केसर के फूलों से कहती है—

नाज है तुम्हें अपनी सुन्दरता पर, केसर के फूल,
देख, मैं तुम से भी सुन्दर हूँ, केसर के फूल !

सारा दिन परिश्रम करने के पश्चात् किसान केसर के फूल चुन-चुनकर इकट्ठा कर पाता है, लेकिन उसके परिश्रम का फायदा ठेकेदार उठाता है। वह अपनी वेदना कहने के सिवाय और कर भी क्या सकता है—

"तेरा रंग गुलाबी, केसर के फूल।
तुझे चुनते पसीने से लथ-पथ हुए,
हमारा क्या ? केसर के फूल !
तू शहर जायगा,
समद ! तनिक देखने भी दे,
इसका रंग कितना गुलाबी !"

वसन्त का समय है और सारी धरती कुसुमाच्छादित है। ऋतुराज के मनोरम दृश्य, 'मार्गों' पर घूमती हुई ग्वाल-बालिका से अधिक अच्छा कौन देख सकता है। वह गाती है—

"दूर बनों में फूल खिले हैं,
अलि, प्रियतम का कोई सन्देश नहीं,
पहाड़ी झीलों पर पुष्प-वर्षा हुई,
अलि, मेरे प्रियतम का कोई पता है ?"

देहाती स्त्रियाँ सारा काम स्वयं ही करती हैं, गर्मियों में खेती के काम में पुरुषों का हाथ बटाती हैं और जाड़े में सून या ऊन कातती हैं, जिससे कपड़ा तैयार करती हैं। हालांकि स्वयं शाल का प्रयोग नहीं कर सकतीं, उसके लिए जो ऊन 'पश्म' काम आती है, उसे कातते समय गाती हैं—

"इन हाथों से शाल की ऊन कातूँगी, सखी !
इसे केसरिए रंग में रंगूगी, सखी।"

या—

"स्वच्छ कुटी में चटाई पर धरा मेरा चरखा,
कितना प्यारा है मुझे !
सून और पश्म के तार कातूँगी,
मेरे दिल का तार यही तो है।"

कश्मीरी लोक-गीतों की विशेषता उनका माधुर्य है। बंगाल के लोक-गीतों के अतिरिक्त मैंने किसी प्रान्त के गीतों में इतनी मिठास नहीं पाई। कारण यह कि बंगला के समान, कश्मीरी काव्यमय भाषा है। जितना ही सरल इनका प्रसंग, उतना ही मधुर इनका गुनगुनाना लगता है। प्रेम प्रलाप के गीत कश्मीरी आम गाते हैं। एक लोक-प्रिय गीत नीचे दिया जाता है—

मेरी बालिये सोरि सामान लो लो।
करी छ्वनि छ्वनि रोनि दामान लो लो॥
गॅम शरमन्द दखिनिक रुल अछि पोश।
कॅह छि शूबिदार कॅह छि जानान लो लो॥
दूर प्रायन चान्य नूर फुलवान।
हूर कोरथम स्वर्गिस्तान लो लो॥

"मेरी प्रियतमा ! शृङ्गार कर और घूँघर छनछनाती हुई मेरे पास आ। तुम्हारी सुन्दरता के सामने दक्षिण के अछफूल भी जिनमें कुछ मनभावन हैं, कुछ दिलपसन्द लजाते हैं। जब तुम बालियाँ पहनती हो तो चारों ओर प्रकाश फैलता है। ओ स्वर्ग से आई हुई अप्सरा, मेरा दिल तेरे लिए तड़प रहा है।"

इस गीत की लय इतनी आकर्षक है कि ताल मिलाए बिना नहीं रहा जाता। यह गीत घर-घर में प्रचलित है। एक और लोक-गीत का अनुवाद दे रहा हूँ। प्रेमिका अपने प्रियतम को ढूँढती हुई कहती है—

"जुल्फों के पाश में बाँधकर मुझे
कहाँ गया वह ?
वन में जाकर आत्मा-हत्या कर लूँगी,

अपराध उसी पर चढ़ाऊँगी।
कहाँ गया प्रेम-बन्धन में बाँधकर मुझे ?
वह मेरी कलाई की चूड़ी,
कानों की बाली, आभूषण,
और दिल का मल्हम,
सब कुछ ही था।
उसे बुरी आँख न लगे,
वह मेरा मोतियों का हार कहाँ गया ?"

शीरीन खुशरू, लैला मजनू, हीमाल नागराय की प्रेम-कथायें कश्मीर के घर-घर में प्रचलित हैं। एक सुन्दरी अपने प्रेमी को पुकारती हुई कहती है—

"शीरीन के प्रेम से पागल, खुशरू !
तू पहाड़ तोड़ने चला,
क्या तेरी सहज भावना पर किसी ने विश्वास किया ?"

प्राकृतिक दृश्यों से प्रभावित होकर कई अज्ञात कवियों ने अपनी प्रेम-प्रलाप की रचनायें रची है। एक गडरिए की स्त्री गाती है—

मेरा प्रियतम भेड़ों के पीछे चला है,
वन में हार बना रहा होगा, मेरे लिए—
सुन्दर सोसन के फूलों का,
मेरे ही लिए सखी !

पहले कह चुका हूँ कि इन लोक-गीतों से ही कश्मीरियों के जीवन का प्रवाह होता है। दुख की बात है कि इनके भण्डार में वृद्धि नहीं हो रही है। इनका संचय करने की ओर किसी का ध्यान नहीं गया है। मैंने इस दिशा में कुछ प्रयत्न किया है, और आशा है कि एक संग्रह जल्दी ही प्रकाशित करूँगा।

डोगरी लोक-गीत

जितने कश्मीरियों को अपने लोक-गीत प्यारे हैं, उतने ही जम्मू प्रान्त निवासियों को डोगरी गान। जम्मू और हिमाचल प्रदेश का इलाका तो लगभग सारा पहाड़ी ही है, और सारे प्रदेश में डोगरी भाषा बोली जाती है। शहर की तथा गाँव की भाषा में बहुत अन्तर है जो लोक-गीतों में भी प्रतिबिम्बित होता है। इसके बावजूद भी इनकी जनप्रियता में फर्क नहीं पड़ा है। जन्मकाल से देहावसान तक, शोक या उत्सव के समय बहादुर डोगरा लोग अपने गीत गुनगुनाते ही मिलेंगे। कश्मीरी लोक-गीतों की तरह इनका वर्गीकरण किया जा सकता है। ढोलक के गीत

सब से अधिक रसपूर्ण और लोकप्रिय हैं। बेटे से सम्बन्धित किसी उत्सव पर 'घोड़ी' गीत गाए जाते हैं, और लड़की के विवाह पर गाए जाने वाले गीत 'सुहाग' कहलाते हैं। देवताओं की प्रशंसा में 'जात्र' गाया जाता है और प्रेम-प्रलाप के गीत को 'गजल' ही कहा जाता है।

कहीं उत्सव पर दूकानें सजी हैं और ग्राहकों की भीड़ है। रंग-बिरंगी वेष-भूषा पहने हुए लोग इधर-उधर घूम रहे हों। नवयुवकों की एक टोली गाने के लिए तैयार हो जाती है—

ओ पखड़ो लोड़ चदी कने झोल चदी ओ !
कने डोलचदी ओ।
ओ पखीए लगन सुने दियाँ लरजाँ,
आन्दे साजन करदे अरजाँ,
पखी लोड़चदी कने झोल चदी,
कने डोलचदी ओ !

"प्रियतमा ! तुम्हारे हाथ में जो सुन्दर पंखी है, उसकी हमें आवश्यकता है। यह पंखी बहुत काम आती है, और बहुत सुन्दर है। इसमें सोने की झालर लगी हुई है, इसलिए साजन तुमसे मिन्नतें करते हैं।"

डोगरा महिला अपने समाज के बन्धन तोड़ना चाहती थी, और अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह करना चाहती थी। किन्तु लोग उसे धिक्कारते थे, वह केवल चीख पुकार करके ही रह जाती थी—

हाय ! मैं बुरा नहीं कह सकती किसी को
फिर भी दिल कैसे खोलूँ साजन !
गगरी लिए पनघट गई,
थानेदार ने तंग किया, पानी भरने न दिया,
कुदाली लेकर खेत पर गई,
लेकिन हाथों में छाले पड़ गए, साजन !
पहाड़ी पर साधु रहता है,
शंख-ध्वनि से मुझे बेचैन करता है—
मैं जिया कैसे खोलूँ, साजन !

लड़की के विवाह पर खुशियाँ मनाई जा रही हैं। उसे डोली में बैठाकर विदा किया जा रहा है, दुल्हन रो रही है। लेकिन उसकी सिसकियाँ ढोल और बाजे के शोर में किसे सुनाई पड़ेंगी ? डोली के पीछे-पीछे महिलाएँ गाती हुई निकलती हैं—

चोन्द मेरिये बागां दी कोयलिये,
असां छोड़ी बन की चलीदे।

बाबुल मेरे धर्म जे कीता,
धर्म दी बद्धी आँव चलीआँ ॥
"मेरे बाग की बुलबुल,
तू बाग छोड़कर कहाँ चली ?"
"पिता ने धर्म के अनुकूल मुझे दान में दिया,
उसी धर्म में बँधी हुई जा रही हूँ ।"

एक और लोकगीत का साधारण अनुवाद नीचे दिया है—

पुत्री—"पिता, तेरे महल में से मेरी डोली नहीं गुजरती, ससुराल कैसे जाऊँ ?"

पिता—"तेरी डोली को निकालने के लिए बेटी, महल तुड़वा दूंगा, तू जा ।"
पुत्री—"डोली बाग के पेड़ों की टहनियों से उलझ गई, मैं कैसे जाऊँ ?"
पिता—"बेटी, मैं आम के सारे पेड़ कटवा दूंगा, बहाना न कर, तू जा ।"
पुत्री—"तुम्हारे घर में खुल्ले दालान हैं, पिता, यहाँ गेंद से कौन खेलेगा ?"
पिता—"बेटी, मेरी पोतियाँ इनमें खेला करेंगी, देर न कर, तू जा ।"

जम्मू डोगरा शूरवीरों की भूमि है और सैकड़ों वर्ष यहाँ शास्त्रों के टकराने की गूँज वातावरण को अशान्त बनाती आई है । इस पहलू से इस प्रान्त की राजस्थान से तुलना की जा सकती है । नवविवाहिता दुल्हन को सास के पास छोड़कर एक वीर घर से चला है । दुल्हन उसके लिए बेचैन है, किन्तु अपनी वेदना सास को प्रकट नहीं कर सकती । "उसे पूछती है कि सैनिक घर से बाहर किस तरह जीवन व्यतीत करते हैं । सास कहती है—हरे-हरे पौधे काटकर उन्हीं की शैय्या पर आहें भरते हुए सो जाते हैं ।"

नऊँ ससोगी पुछना करदी,
बार सिपाही कहाँ सोंदेअन ?
पुंगा पुटी-पुटी सथर पान्दे,
सूक सुटी सेई सोंदे अन ।

एक वीर सिपाही का युद्ध में वध हो जाता है । उसकी पत्नी शत्रु से बदला लेने के लिए चल पड़ी । उसके पुत्रों ने समझा कि माँ मर गई होगी किन्तु एक रात वह घर लौट आती है, और बेटे को जगाती है । बेटा समझता है कि वह शायद स्वर्ग लोक से आई है ।

अन्धेरी रात को माँ स्वर्ग से चल कर बबरपुर पहुँची
घर में प्रवेश कर बहू को पूकारा,
किन्तु बेटा जाग उठा ।

उसने पुकारा—
सुन्दरी जाग, माँ आ गई !
माँ ! बारह वर्ष तेरी राह देखी,
तू सती क्यों न हुई ?
जिन्होंने वीर पिता का वध किया,
वे प्रसन्न हैं,
हर साल ब्याह-शादी करते हैं—
लेकिन गाँव वाले उनका तिरस्कार करते हैं।
सच है, मित्र नहीं बनते, साँप के बच्चे,
कटोरे दूध पिलाने पर,
न मित्र होते हैं शेर के बच्चे,
सौ बार बन्दी बनाकर।

एक युवक फौजी नौकरी से परदेश जा रहा है और उसकी स्त्री धैर्य और साहस की मूर्ति बनकर उसे विदा करती है—

जे चलियाँ तू नौकरी चनां चाकरी, मेरी पखड़ी लई जायाँ।
जे चनां लगे गर्मी जे गर्मी, मेरी पखड़ी झोलि लईयाँ॥
जे चलियाँ तू नौकरी चनां चाकरी, मेरी ओढ़नी लई जायाँ।
चनां लगे सर्दी जे सर्दी, मेरी ओढ़नी लई लियाँ॥
जे चलियाँ तू नौकरी चनाँ चाकरी, मेरी आरसी लई जायाँ।
ले चनां लगे पुखड़ी जे पुखड़ी, मेरी आरसी बेची खायाँ॥
जे चलियाँ तू नौकरी चनां चाकरी, मेरी चोलड़ी लई जायाँ।
ले चनाँ लगे मण्डराजे मंडरा, मेरी चोली गले लाईयाँ॥

"मेरे चाँद ! नौकरी पर जा रहे हो, मेरी पंखी साथ ले जाना,
गर्मी सतायेगी तो पंखी से हवा करना।
मेरे चाँद ! नौकरी पर जा रहे हो,
मेरी ओढ़नी साथ ले जाना,
सर्दी लगे तो ओढ़नी ही लपेटना।
मेरे चाँद ! नौकरी पर जा रहे हो,
मेरी आरसी साथ ले जाना,
भूख सताए तो इसे बेचकर खाना।
मेरे चाँद ! नौकरी पर जा रहे हो,
मेरी चोली साथ ले जाना,
मेरी याद सताए तो इसे गले लगा लेना।"

बौद्ध-भूमि लद्दाख

बौद्ध-भूमि लद्दाख के बारे में कहा जाता है कि वहाँ के लोग आपराधिक कार्य नहीं करते। लोग जब दिन को काम-काज से बाहर जाते हैं, घर पर ताला नहीं लगाते। अन्य जुर्म, कत्ल आदि से वे लोग परिचित नहीं हैं। लद्दाखी जीवन की एक और विशेषता है, कि वहाँ की महिलाओं का सामाजिक उत्थान हुआ है, हालाँकि अभी भी बहुपतित्व की प्रथा वहाँ प्रचलित है, जिसे मिटाने की बहुत कोशिश की जा रही है।

प्राकृतिक सौन्दर्य के लिहाज से लद्दाख की कश्मीर घाटी से तुलना तो नहीं की जा सकती है, लेकिन इस सीमान्त प्रदेश के भी कई दिलचस्प पहलू हैं। लद्दाख ही भारतवर्ष में एक स्थान है जहाँ लोग बहुधा बौद्ध-धर्मावलम्बी हैं। यहाँ के लोगों का रहन-सहन, उनकी गाथाएँ, लोक-नृत्य और धार्मिक जीवन आदि का अध्ययन करने की किसे अभिरुचि न होगी। करीब ३६,००० वर्ग मील के बंजर पहाड़ी इलाके की सीमाएँ चीन और तिब्बत से मिलती हैं, लेकिन जनसंख्या केवल ६०,००० ! उनका जीवन बिलकुल साधारण, और उनकी दरिद्रता अकथनीय है। गरीब होते हुए भी इनका हँसमुखपन मेरे लिए आश्चर्य का कारण है। मैंने कभी उन्हें अपने भाग्य को कोसते नहीं सुना है, बल्कि विपरीत परिस्थितियों में भी नाचते-गाते ही देखा है। उनकी सहनशीलता लोक-प्रसिद्ध है और काम करने की क्षमता प्रशंसनीय।

यहाँ की जलवायु विचित्र है । या बहुत गर्मी पड़ती है या कड़ाके की सर्दी । सारा इलाका ८,००० फीट से १५,००० फीट की ऊँचाई पर स्थित है और पथरीला है, इसलिए जमीन बहुत जल्दी तपती और ठंडी होती है । वर्षा नाम-मात्र ही होती है, साल भर में ३ इंच से भी कम, हवा में नमी का नाम नहीं । सदियों से यह इलाका भारत तथा मध्य-एशिया के बीच व्यापार का केन्द्र बना रहा है । आते-जाते कारवाँ लद्दाख की राजधानी लेह में मिलते हैं । कश्मीरी शाल बनाने में जो 'पश्म' ऊन प्रयोग होती है, तिब्बत से ही आती है । सुखाये हुए फल, आदि भी वहाँ से आते हैं । तिब्बती तथा चीनी व्यापारी भारत से चाय, तम्बाकू, चीनी, दियासलाई तथा अनाज ही अपने साथ ले जाते हैं ।

लद्दाखी लोगों का किसी एक जाति में वर्गीकरण नहीं हो सकता है । वास्तव में लद्दाखियों की नस्ल आर्य तथा मंगोल जातियों के मिश्रण से बनी है । आर्य जाति के लोग अब भी दर्दिस्तान में पाये जाते हैं । मंगोल, जिन्होंने सदियों पहले इस इलाके में प्रवेश किया अब लद्दाखी और बलती कहलाते हैं । सबसे आगे तो आर्य ही घुस आए थे, फिर मंगोल और दोनों के मेल से लद्दाखी का प्रादुर्भाव हुआ । दर्द लोग बहुधा इस्लाम के अनुयायी हैं और अधिकतर सुन्नी हैं । दुपका बौद्ध भी असल में दर्द हैं, लेकिन उन्होंने इस इलाके में सैकड़ों वर्ष पूर्व गिलगित से प्रवेश किया था । जात-पात का अन्तर होते हुए भी इन सब की भाषा तिब्बती है । दर्द मुसलमान तथा दुपका बौद्ध भी अपनी मातृभाषा के साथ-साथ तिब्बती बोलते हैं । लगभग ९०,००० की आबादी में ७०,००० तो बौद्ध जन ही होंगे ।

साधारण जैसा इनका जीवन है, वैसी इनकी वेशभूषा । कद से छोटे, लेकिन प्रबल और परिश्रमी हैं । मुखाकृति मंगोलों जैसी है, इसलिए कश्मीरियों से पृथक है । इनमें जाति भेद की कोई भावना नहीं, अकसर अपनी लड़कियों का विवाह अन्य धर्मावलम्बियों के साथ रचाते हैं । और कई इलाकों में बौद्ध विहारों का परिचालन भी मुसलमानों द्वारा करवाते हैं । सदा प्रसन्न-चित्त और नाचने-गाने में मस्त रहते हैं । एक घटिया शराब 'छंग' घरों पर ही बनाते हैं, और इसके बगैर निर्वाह नहीं कर सकते हैं । 'छंग' उनके पूजा-पाठ की सामग्री में स्थान पा चुकी है, इसके बिना इनका कोई त्यौहार या भोज सम्पूर्ण नहीं माना जाता ।

रहन-सहन

लद्दाखी की वेशभूषा मोटे लाल रंग के गर्म कपड़े का चोगा-सा है जिसके ऊपर पेटी बाँधी जाती है । अन्दर से कुछ और नहीं पहनते । टोपी नमदा या कपास को सीकर रजाई की तरह के कपड़े से बनती है जो माथे और कानों को ढकती है । पाँव में नमदे की मोटी जुराबें और उसके ऊपर नमदे का ही बना हुआ घुटनों तक

जूता पहनते हैं, जिसका तल्ला चमड़े का होता है। स्त्रियाँ भी यही वेश धारण करती हैं, लेकिन फर्क इतना है कि रोएं समेत बकरी की खाल को शाल के तौर पर इस्तेमाल करती हैं। उनकी टोपी पर सीप आदि के टुकड़े धागे से पिरोये होते हैं। जिन्दगी की जरूरतों को इन्होंने बहुत ही कम किया है। खाने के लिए जो कुछ मिल जाय ठीक ही है। बौद्ध होकर भी मरे हुए या रोगी पशुओं का माँस खाने में संकोच नहीं करते। वास्तव में माँस इन्हें बहुत ही प्रिय है। वर्षा की कमी के कारण इस इलाके में उपज बहुत ही कम होती है, इसलिए जौ पर ही निर्वाह करते हैं। इनके खाने का तरीका भी प्रथक है। जौ का सत्तू बनाकर चाय, जिसे याक के दूध तथा मक्खन से मिलाकर फिर उसे मथकर बनाया जाता है, के साथ मिलाते हैं। फिर उसके पेड़े जैसे बना लेते हैं और वही खाते हैं माँसाहारी तो हैं ही, परन्तु पशुओं का वध किसी शस्त्र से नहीं करते, बल्कि मुँह और नथुने बन्द कर, उनका दम घोंटकर। चूँकि इस प्रान्त में जंगल हैं ही नहीं इसलिए उपलों से ही खाना पकाते हैं। गरीब इतने हैं कि रात को सोने के लिए इनके पास बिस्तरा नहीं होता, इसलिए कपड़ों समेत ही लेट जाते हैं और तकिये का काम लकड़ी के एक टुकड़े से लेते हैं।

बुपका बौद्ध

दर्द लोगों का रहन-सहन निराला है। जन्म भर वे कभी स्नान नहीं करते। वास्तव में उस इलाके में पानी की कमी है और पीने का पानी मीलों से लाना पड़ता है इसी कारण उनके मन में यह मूढ़-विश्वास घर कर गया है कि वे यदि पानी का 'दुर्पपयोग' करें तो ईश्वर कुपित होकर पानी बन्द कर देगा। उन्हें गाय और मुर्गी से बहुत नफ़रत है, वे दूध, अण्डे का प्रयोग नहीं करते। रात को अन्धेरे में सोते हैं, इस डर से कि कहीं उनकी इष्टदेवी नाराज़ न हो जाय। सारा

कुटुम्ब, गाय बकरी समेत एक ही कमरे में सोता है। पत्थर के बने हुए इनके मकानों में कोई प्रवेश द्वार नहीं होता। सीढ़ी पर चढ़कर छत से अन्दर कूदना पड़ता है।

बहुपतित्व की प्रथा

तिब्बतियों की तरह लद्दाखियों में भी बहुपतित्व की कुप्रथा अभी प्रचलित है। लड़की का विवाह कुटुम्ब में सब से बड़े भाई के साथ रचाया जाता है। घर में आई हुई दुल्हन परम्परा के अनुकूल सब भाइयों की स्त्री बन जाती है। इसके अलावा स्त्री को यह अधिकार है कि वह अन्य किसी पुरुष (फोर्सक) को अपने ज्येष्ठ पति की अनुमति से घर में रख सकती है और उसे उप-पति का दर्जा दे सकती है। पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति ज्येष्ठ पुत्र को मिलती है, और यदि पुत्र न हो तो सबसे बड़ी लड़की वारिस बनती है। उत्तराधिकारी को अपनी अविवाहित बहनों का पालन-पोषण और माँ की देख-रेख करनी पड़ती है। अकसर देखा गया है कि सबसे छोटे भाई को घर आई हुई वधू को अपनी स्त्री मानने का अधिकार नहीं, इसलिए उसे अविवाहित ही रहना पड़ता है। उनमें अधिकतर भिक्षु बनकर बौद्ध विहारों में आश्रय लेते हैं।

लद्दाखी महिला

सबसे बड़े भाई की मृत्यु पर यदि उसकी विधवा (?) अपने अन्य पतियों के साथ न रहना चाहे, तो उसे जमीन का एक टुकड़ा हिस्से में दिया जाता है, जिस से वह अपना निर्वाह कर सके। अगर कोई लड़की पिता की सम्पत्ति की वारिस बन जाए तो वह किसी पुरुष से विवाह कर उसे अपने घर ले आती है। इस 'मगपा' प्रथा का शिकार बेचारा पुरुष ही होता है, क्योंकि उसे पत्नी के हाथों कठपुतली बन कर रहना पड़ता है। अगर उसका व्यवहार संतोषजनक न रहा तो उसकी पत्नी उसे तलाक देकर घर से बाहर निकाल सकती है। मेरा अपना विचार है कि बहुपतित्व

की प्रथा का सम्बन्ध लद्दाख की जमीन के बंजरपन तथा अनाज की कमी से है। यह भी सम्भव है कि इनके पूर्वजों ने जनसंख्या को रोकने के लिए यह प्रथा अपनाई हो।

विधवा-विवाह का रिवाज लद्दाख में आम है। यदि वह मृत-पति के स्थान पर 'मगपा' पति को ले आए, तो उसके अधिकारों में कोई अन्तर नहीं आता। तब भी उसे पूर्व पति की सम्पत्ति पर पूरा हक होता है। कभी ऐसा भी होता है कि माता पिता से अनुमति लिए बिना विवाह रचाया जाता है। कुछ साल के बाद लड़की को अपने मैके भेजा जाता है, जब वह माँ बन चुकी होती है। तब कहीं उसके माता-पिता उसका विवाह उसी घर में कर देते हैं। ऐसे विवाह को 'अपहरण कर विवाह' करना कहते हैं।

चंगपा बौद्धों के बारे में एक दिलचस्प बात यह है कि जब कोई चंगपा बीमार हो जाय और उसके ठीक होने की कम आशा हो, तो उसके लिए एक बड़ा गढ़हा तैयार कर उसे उसमें डाल देते हैं और ऊपर से तम्बू लगा देते हैं। दो-तीन पुरुष उसकी देखभाल के लिए रहते हैं, बाकी सब दूर रहते हैं। यदि उसकी मृत्यु हो जाय तो उसे गढ़हे में ही रहने देते हैं, जहाँ उसे गिद्ध और चीलें आकर खा जाती हैं। यदि वह स्वस्थ हो जाय तो घर लौट आता है। वैसे अन्य बौद्धों में मृतक शरीर को जलाने का रिवाज है।

लामा

बौद्धों की धर्म-निष्ठा काफ़ी गहरी है। बौद्ध-धर्म पहले-पहल अशोक के समय कश्मीर पहुँचा और भिक्षुओं द्वारा चीन, तिब्बत आदि देशों में फैला। इस समय लद्दाखियों का धर्म बौद्ध-धर्म नहीं, बल्कि तंत्रिक बौद्ध-धर्म अथवा लामा धर्म है। लामा लोगों का इन अनपढ़ लोगों पर बहुत प्रभाव है और वास्तव में यही उनके अज्ञान का कारण हैं। कहने को तो वे संन्यासी जीवन व्यतीत करते हैं। इनका अधिकतर समय पूजा पाठ-तथा धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन में बीतता है। लामा लोग 'गोम्पा' विहार या संघाराम में रहते हैं जहाँ शैशव-काल से उनकी शिक्षा का पूरा प्रबन्ध किया जाता है। प्रत्येक गोम्पा के साथ एक जागीर है जिसकी उपज से लामाओं के भोजन, वेशभूषा और मन्दिर की पूजा आदि का व्यय निकलता है। लोगों की भेंटों से भी बाकी खर्च पूरे हो पाते हैं। लद्दाख में ३०,००० से अधिक भिक्षु तथा संन्यासिनें होंगी, क्योंकि प्रत्येक कुटुम्ब में एक से अधिक व्यक्ति लामा बनते हैं।

बच्चों को गोम्पा में भेजने के बाद ही उन्हें धार्मिक दीक्षा मिलती है। उनका सिर मुण्डा जाता है और लामाओं का वेश धारण कराया जाता है। भिक्षुणी को 'चोमो' कहते हैं इसका भी सिर मुंडा जाता है और नया नामकरण किया जाता है। 'डुकपा' बौद्ध लाल टोपी पहनते हैं और 'सेरपोगोन' पीली, अन्य वस्त्र दोनों के लाल

होते हैं। डुकपा लामा माँस-मदिरा को निषिद्ध नहीं समझते है, परन्तु सरगोगोन लामा धार्मिक सुधारक होने के कारण इनको वर्जित मानते हैं।

पत्थरों के बने हुए गोम्पे बड़े विशाल और हृदयगंम होते हैं। यह पहाड़ों की ढलानों पर बस्ती से दूर बनाए जाते हैं। प्रवेश द्वारा के पास ही प्रार्थना के 'सिलेण्डर' हैं। गोम्पों के दो भाग होते हैं, एक में धार्मिक पोथियाँ कंग्युर तंग्यूर (तिब्बती त्रिपिटक) की क्रमश: १०८ और १५१ अलमारियों में रेशमी कपड़ों से लपेटी हुई होती हैं, और दूसरे में भगवान् बुद्ध और देवी-देवताओं की मूर्तियाँ जिन पर सोना चाँदी चढ़ाया होता है। गोम्पों तक पहुँचने के लिए ऊँची पत्थर की दीवारों में से गुजरना पड़ता है। इन 'मणि' दीवारों पर "ओं मणि पदते हूँ" 'ओं आहूँ' मन्त्र या बुद्ध-प्रतिमाएँ अंकित होती हैं। यह प्रत्येक गाँव के आरम्भ और अन्त में भी पाई जाती हैं। भिक्षुणियों के लिए अलग विहार बनाए गये हैं। ये भी लाल या पीले वस्त्र पहनती हैं, किन्तु पीले सम्प्रदाय वाली मठवासिनियों की अधिक इज्जत होती है।

प्रत्येक गोम्पे का मुख्य लामा 'कुशोक' कहलाता है। इन्हें बोद्धीसत्तव माना जाता है और कहा जाता है कि वे लोकहित के लिए आवागमन के चक्कर से मुक्ति नहीं पाते। जब कुशोक की मृत्यु हो जाय तो तुरन्त लहासा के बड़े लामा को सन्देश भेजा जाता है, जो उत्तर में यह बता देता है कि उसका पुनर्जन्म किस घर में हुआ है। तब खोज आरम्भ होती है, जिसमें कई वर्ष लग जाते हैं। उसे फिर गद्दी पर बैठाया जाता है और विद्याभ्यास कराया जाता है और फिर दस पन्द्रह वर्ष के लिए उसे लहासा भेजा जाता है जहाँ उसे अनेक परीक्षाएँ पास करनी पड़ती हैं।

लद्दाखी त्यौहारों का एक दिलचस्प पहलू गोम्पा के लामाओं का नृत्य है। भाँति-भाँति के मुखावरण पैहनकर वे 'पिशाच नृत्य' करते हैं। बाहर से लोग लद्दाख में केवल यहीं नृत्य देखने आते हैं। बाहर से आए हुए प्रतिष्ठित व्यक्तियों के लिए भी यह नाच नाचा जाता है। लद्दाखी नृत्य का अन्य कहीं वर्णन किया गया है।

कला

मैंने पहले भी कहा है कि परिश्रमी होते हुए भी लद्दाखी दरिद्र हैं। परन्तु उनकी ललित-कलाओं की ओर विशेष अभिरुचि है। ये लोग जन्म से ही कलाकार होते हैं। इनकी कलात्मक प्रवृति की गवाही गोम्पो के अन्दर की हुई चित्रकारी देती है। शिल्पकला में प्रवीण होने के कारण इन्होंने गगनचुम्बि विहार तथा मूर्तियाँ बनाई हैं, जिन पर सारी मानवता गर्व कर सकती है। मुल्बेक के पास लेटे हुए मैत्री-बुद्ध प्रतिभा मिलती है जिसे एक ही शिलाखण्ड से काट कर बनाया गया है। लेह के एक गोम्पा में दुमंजिला बुद्ध-प्रतिमा मिलती है जिसकी निर्माण-कला की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जा सकता। लेह से आठ मील की दूरी पर धातु की एक इतनी

ही बड़ी प्रतिमा मिलती है, जिसके सुडौलपन तथा उल्लसित मुख को देख भक्ति की भावना जाग्रत होती है। अन्य कई गोम्पों में सोना, चाँदी और हीरों से जड़ी हुई मूर्तियाँ भी मिलती हैं।

लद्दाखियों का कला-कौशल बस यहीं समाप्त नहीं होता। 'मणि' दीवारें बहुत विशाल और जनता की धर्मनिष्ठा की स्मारक हैं। इनका निर्माण करते वर्षों बीत जाते हैं, और लम्बाई सैकड़ों फीट। भारतीय संस्कृति का प्रभाव इन लोगों के रहन-सहन पर साफ़ दीखता है। गोम्पों में स्पितुक, लेह से चार मील, रिजोंग, छत्तीस मील, हेमिस पच्चीस मील तथा स्मस्तलिंग देखने योग्य हैं। हेमिस गोम्पा में जून के महीने में एक नृत्य समारोह होता है जिसे देखने के लिए दूर-दूर से लोग आते हैं। अन्य गोम्पों में भी ऐसे उत्सव मनाए जाते हैं, परन्तु सर्दियों में, इसलिए वही सैलानी इनका मजा ले सकता है जो कड़ाके की सर्दी सह सके।

लद्दाख पहुँचने के कई मार्ग हैं। एक कुलू-लेह, दूसरा सुरू-करगिल-लेह और तीसरा सीधा श्रीनगर-लेह का रास्ता है। कुलू घाटी से जाने का मार्ग दुर्गम है क्योंकि बीच में १३००० से १७००० फीट ऊँचे पहाड़ों पर से होकर जाना पड़ता है। दूसरा रास्ता सुरु-लेह का भी मुश्किल है क्योंकि सागरनील (१५००० फीट) और मसाकील (१४,०००) फीट पर्वतों से होकर जाना पड़ता है। इसलिए श्रीनगर-लेह मार्ग ही उचित समझा जाता है। रास्ते में जोजिला दर्रा केवल १०,५०० फीट ऊँचा है, उसके पश्चात् अन्य दर्रे भी आते हैं परन्तु वह सारा वर्ष खुले रहते हैं। श्रीनगर से लेह २३७ मील की दूरी पर है, और ५४वें मील से घोड़े पर या पैदल जाना पड़ता है। रास्ते में मुख्य पड़ावों पर रेस्ट-हाऊस का प्रबन्ध है और माली सुविधाएँ प्राप्त हैं। डाकतार घर द्रास, करगिल तथा लेह में हैं। सोनामर्ग से करगिल तक जीप गाड़ी जाती है, और लेह और करगिल के बीच जीप के लिए सड़क बनाई जा रही है ताकि सारा रास्ता जीप द्वारा पूरा हो सके। श्रीनगर से लेह हवाई सर्विस भी चालू है। लद्दाख जाने के लिए भारतीय संरक्षा मन्त्रालय से परमिट लेना जरूरी है। घोड़े पर तो रास्ता १५ रोज़ में पूरा होता है।

सैलानियों के लिए आवश्यक है कि लद्दाख जाने से पहले हर साधन को जुटाया जाय। घोड़े के लिए अपने साथ जीन ले जाना जरूरी है क्योंकि उनकी काठियाँ सुखदायक नहीं होती हैं। गर्मियों में भी ऊनी वस्त्र ले जाने की ज़रूरत है, क्योंकि ऊँचे पहाड़ों पर काफी सर्दी पड़ती है। कैमरा तथा दूरबीन सैलानी के साथी तो हैं ही।

लद्दाख जाने के लिए पर्याप्त तैयारी करनी पड़ती है, परन्तु जिन्हें पहाड़ों पर घूमने, तथा अन्वेषण करने का शौक हो, वे क्योंकर लद्दाखी जनता के बुलावे को ठुकरा सकते हैं।

प्राचीन काल में कश्मीर के एक राजा को उसके भविष्य-वक्ता मन्त्री ने सूचित किया कि अमुक तिथि से देश में सारा पानी दूषित हो जायगा, जिसको पीने से जनता उन्मत्त हो जाएगी। तात्पर्य यह है कि उसने राजा को चेतावनी दी कि वह स्वयं मुसीबत से बच जाय। राजा ने पहले से ही जल का संचय किया। वास्तव में मन्त्री की भविष्यवाणी सच ही सिद्ध हुई और कुछ समय बाद सारी प्रजा पागल हो गई, लेकिन उसके और मन्त्री के होश ठिकाने ही रहे। राज्य में अशान्ति फैली और मार-काट शुरू हुई। कईयों ने राजा और मन्त्री की हत्या करने की ठान ली। शासक को डर लगा अपने होश ठीक रखने का परिणाम यह न हो कि वह अपनी जान गँवा बैठे। उसने भी अपवित्र जल को पिया, और पागल होकर बाकी लोगों में घुल मिल गया।

कश्मीरी लोकोक्ति "बब्रा मत्यव नि मदनि मत्येयि"—पिता पागल हो गया, माँ भी पागल हो गई—का यही सारांश है। कश्मीरी लोकोक्तियों, लोक-कथाओं आदि का भण्डार असीम है। अंग्रेजों की बाइबल को छोड़ 'पंचतन्त्र' ही एक पुस्तक है

जिसका अनुवाद अधिक-से-अधिक विदेशी भाषाओं में हुआ है। सम्भवतः बहुत कम लोगों को ज्ञान होगा कि पंचतन्त्र की कहानियाँ कश्मीर में ही लिखी गई थीं। इसके अतिरिक्त 'कथासरित्सागर' ऐसी ही एक और पुस्तक है जिसकी चर्चा दुनिया के कोने-कोने में फैली है। इसका रचयिता सुप्रसिद्ध कश्मीरी पण्डित सोमदेव था। इन कथाओं और जनप्रवाद का महत्त्व कई प्रकार का है। इनके अध्ययन से कश्मीरी लोक-साहित्य की झाँकी मिलती है किन्तु सब से आवश्यक बात यह है कि इनसे इतिहास के अनेक भूले हुए घटना-प्रसंगों का परिचय मिलता है, जिससे साहित्य का विश्लेषण करने में सुविधा होती है। यह तो मानी हुई बात है कि केवल पुस्तक की तिथि-तारीख तक ही साहित्य का इतिहास सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता है।

जलवायु के अनुकूल न होने के कारण कश्मीर की पुरानी भोज-पत्र पर लिखी पोथियाँ अधिक देर तक नहीं टिक सकी हैं। बहुत पुराने समय की पोथियाँ तो मिलती ही नहीं, फिर भी जो पुस्तकें मिली हैं, बड़ी महत्त्व की हैं। यह बात पहले ही स्पष्ट है कि कश्मीरी साहित्य का इतिहास केवल लेखकों, कवियों या कहानीकारों के उद्भव की कहानी ही नहीं है, उसमें तो समाज के विकास की कथा निहित है। कश्मीरियों के उत्थान और पतन के चिन्ह उसमें साफ दिखाई पड़ते हैं। दुख और मुश्किलें तो आती ही हैं, युद्ध और अशान्ति भी आती है, किन्तु यहाँ के लोग इन सब को सहन करते बचते ही चले आए हैं। कला-केन्द्र, मन्दिर तथा बौद्ध-विहार सभी के सभी नष्ट हो गए, या तो समय का शिकार हुए या मूर्तिध्वंसक शासकों के हाथों बरबाद हो गए। सुलतान सिकन्दर 'बुतशिकन' और पठानों के राज्यकाल में हजारों पुरानी पोथियाँ लोगों ने स्वयं बरबाद कीं, ताकि शासकों द्वारा संपीड़न से बच पाएँ। पोथियों की संख्या इतनी थी कि उन्हें चोरी छुपे जलाया भी गया, बोरियों में बन्द कर उन्हें डल सरोवर में डुबो दिया गया। फिर भी उपलब्ध प्रमाणित सामग्री से इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि बौद्धमत का कश्मीर में काफी प्रचार रहा है। बौद्ध-धर्म अशोक के समय में कश्मीर में आया और कश्मीर के रास्ते ही चीन, तिब्बत आदि मध्य-एशियाई देशों में फैला। ईसा की चौथी शताब्दी तक चीन देश की समूची जनता बौद्ध धर्मावलम्बी हो गई। कनिष्क ने पेशावर को अपनी राजधानी बनाया तो, लेकिन बौद्ध-मुनियों का वार्षिक-संघ कश्मीर में ही होता था।

बौद्ध धर्म का प्रभाव कश्मीर की संस्कृति पर अच्छा पड़ा, जगह-जगह बौद्ध मन्दिर और विहार बने जो उस समय की संस्कृति के केन्द्र बने। कश्मीर से अनेक बौद्ध-भिक्षु मध्य-एशियाई देशों में फैले। उनमें कुमारजीव का नाम सुप्रसिद्ध है, जिसने चीन राज्यकाल में चीन देश में हजारों लोगों को बौद्धमत की दीक्षा दी। राजकुमार गुणवर्मा भी भिक्षु बन कर जावा और सुमात्रा आदि पूर्व-एशियाई देशों में फिरे। प्रसिद्ध चीनी लेखक ह्यूनसांग, जो सातवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म की मूल पुस्तकों का अध्ययन करने आया तो कश्मीरी लोगों के पाण्डित्य को देखकर चकित

रह गया। भारत से जो प्रचारक चीन गए उनमें धर्ममित्र, बुद्धजीव, पुन्यात्रत, विमालक्ष आदि कश्मीरी ही थे।

यह कहना ठीक होगा कि पूर्व और पश्चिम प्रदेशों के बीच लोक-कथाओं का विनिमय पाँचवी शताब्दी से पूर्व हुआ, क्योंकि कश्मीर और अन्य एशियाई देशों का पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध था। कथाओं, किंवदन्तियों, लोक-प्रवादों की अभिव्यक्ति 'जटाक' तथा 'पंचतन्त्र' कथाओं में हुई। इस्लाम के आगमन का यह प्रभाव पड़ा कि कथाओं का फारसी और अरबी में अनुवाद हुआ और मध्य-एशियाई देशों में उनकी चर्चा हुई। इसमें सन्देह नहीं कि सातवीं शताब्दी के पूर्व लोक-भाषा का जो साहित्य बनता रहा, वह अधिकांश उपेक्षित है। किन्तु उसके पश्चात् जो साहित्य बनता रहा, वह भी विशाल है, जिसमें उस युग की सामाजिक, धार्मिक क्रान्ति का परिचय मिलता है। वर्तमान धर्म, आचार-विचार पर मध्यकालीन साहित्य की अमिट छाप है जिसके अध्ययन से सैकड़ों वर्ष पूर्व के कश्मीरियों के साथ हम एक सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं।

किन्तु कश्मीरी, या ऐसा भी कहिए कि समूचे भारत के साहित्य को समझने से पहले कश्मीर के शैवों के साहित्य की जाँच करना जरूरी है, क्योंकि इसने समूचे इतिहास को प्रभावित किया है। नवीं शताब्दी में कश्मीर में शैवमत का प्रचार हुआ, और इतना जनप्रिय रहा कि इसने बौद्धधर्म को समूल उखाड़ फेंका। यहाँ पर शैवों के 'त्रिक' दर्शन के बारे में कुछ कहना उचित नहीं होगा। इसकी कुछ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, लेकिन इसकी ओर लोगों का ध्यान नहीं गया है।

जनश्रुति है कि शैवमत के प्रचारक वसुगुप्त को 'त्रिक' शास्त्र का ज्ञान महादेव पर्वत के शिखर पर हुआ था। वह स्वयं महादेव पर्वत के अंचल में एक सुरम्य स्थान हारवन में रहता था। उसने 'शिवसूत्र' की रचना की और लोगों में नए मत का प्रचार किया। अवन्तीवर्मन के राज्य-काल (८५५-८८३ ई०) में कल्लट भट्ट ने 'स्पन्दवृत्ति' की रचना की। वास्तव में शैवमत को लोकप्रिय बनाने का श्रेय वसुगुप्त के शिष्य सोमानन्द को ही प्राप्त है, जिसने अपने 'प्रतिभिज्ञान सूत्र' की रचना से ही त्रिक-अद्वैत-शैवमत को जनप्रिय बनाया। इसके दार्शनिक पहलू पर अभिनवगुप्त ने टीका की, जिसकी प्रसिद्ध 'प्रतिभिज्ञ विमर्श', 'तन्त्रलोक', 'परमार्थ-सार' आदि कृतियों का लोगों ने स्वागत किया। शैवमत का विकास करने का काम अभिनवगुप्त ने सबसे अधिक किया, इसलिए अकसर लोग उसी को शैवमत का संस्थापक मानते हैं। क्षेमराज ने 'प्रतिभिज्ञ हृदय' और योगानुज, जयरथ और शिवोपाध्याय ने अन्य पुस्तकें लिखकर कश्मीर की सांस्कृतिक परम्परा को जारी रखा। कश्मीरी जनता द्वारा शैवमत के दार्शनिक ग्रन्थों का स्वागत होना ही उनके मानसिक विकास तथा पाण्डित्य का सूचक है।

जयसिंह के राज्य-काल में (११२८-११५४ ई०) सुविख्यात कवि कल्हण का उद्भव हुआ। उसकी रचित 'राजतरंगिनी' संस्कृत भाषा का एक मात्र पुरातन इतिहास है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन इतिहास का जो उसने लेखन किया है, कुछ हद तक जन-श्रुति पर आधारित है। परन्तु कई शताब्दियों के क्रमबद्ध इतिहास का सुन्दर ढंग से उसने कविता में वर्णन किया है। उसका विवरण अन्य कहीं दिया गया है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि श्रेष्ठ साहित्यकार तथा वैज्ञानिक कश्मीर में फले-फूले। वैयाकरणों में चन्द्र (दूसरी शताब्दी), क्षीर-स्वामी तथा वामन (आठवीं शताब्दी) और 'लघुवृत्ति' के रचयिता कय्यट के नाम उल्लेखनीय हैं। कई विद्वानों का मत है कि पाणिनी तथा पातंजलि भी कश्मीरी ही थे। विज्ञान के क्षेत्र में चरक, प्राचीन काल के सर्व-प्रसिद्ध शास्त्र-चिकित्सक, का नाम उज्ज्वल है। फलित ज्योतिष विज्ञान को भास्कराचार्य तथा आर्यभट्ट ने अंशदान दिया। यह भी सुनने में आया है कि कश्मीरी ब्राह्मणों को मन्त्रों के उच्चारण से शारीरिक पीड़ा दूर करने का करतब आता था। मार्कोपोलो कुबलाई खाँ के राज्य-काल में चीन देश गया, और उसने लिखा है कि चीनी लोग कश्मीरी जादूगरों से बहुत डरते हैं। भागीरथ के पश्चात् प्राचीन काल के इंजीनियरों में सूयभट्ट का ही नाम आता है। उसने अवन्तीवर्मन के राज्यकाल में (८५५-८३३ ई०) कश्मीर घाटी को बाढ़ से बचाने के लिए झेलम नदी के प्रवाह को बदल डाला और नहरें खुदवाईं।

कालिदास की जन्मभूमि के बारे में भी काफी लोगों में मतविरोध है लेकिन कई विद्वानों का विचार है कि वह और 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव कश्मीरी ही थे। क्षेमेन्दर ने ग्यारहवीं शताब्दी में 'देशोपदेश', 'कलाविलास' आदि प्रमाणित ग्रन्थ लिखे। बिल्हण ने अपनी 'विक्रमकदेवचरित' में प्रकृति के उपकरणों की सराहना की। यहाँ जयरथ की 'हरिचरित चिन्तामणि' (तेरहवीं शताब्दी), वामनभट्ट के 'काव्यालंकार' (आठवीं शताब्दी) और ममट के 'काव्यप्रकाश' का जिक्र करना ही काफी है।

तेरहवीं शताब्दी के पश्चात् संस्कृत साहित्य का ह्रास हुआ। कश्मीरी जनता जुल्म के पंजे में आ गई। अकबर और जैनुलाबदीन को छोड़कर अन्य शासकों को साहित्य की ओर अभिरुचि न थी, उन्होंने यहाँ की प्राचीन संस्कृति के चिन्ह तक मिटा दिए। साहित्य-रचना बन्द हो गई, धार्मिक और सामाजिक स्वतन्त्रता का कहीं नाम ही नहीं रहा। कश्मीरी जनता ने इस विनाशकाल का मुकाबला किया सहनशीलता के अस्त्र से। जैनुलाबदीन के समय में जनता को कुछ चैन मिला, और जोनराज तथा मुल्ला अहमद ने राजतरंगिनी का फारसी में अनुवाद किया। संस्कृत भाषा को तब भी कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। हिन्दू-मुसलमान दोनों ही फारसी सीखने लगे। हालांकि श्रीकण्ठ ने शैवमत पर प्रामाणिक टीका लिखी, लेकिन लोगों का अधिक झुकाव फारसी की ओर ही गया। मुल्लाजाहिनी ने 'तज्किरे-शोरा-ए-कश्मीर'

लिखी, और औरंगजेब के शासनकाल में मुहम्मद ताहिर ग़नी ने फारसी में कविता की। भारत के फारसी कवियों में से केवल ग़नी की रचनाओं का ही ईरान में सत्कार हुआ है।

यह कहना आवश्यक है कि तासुबी शासकों के अत्याचारों से तंग आकर सैकड़ों कश्मीरी भारत के कोने-कोने में फैले, जहाँ उनकी प्रतिभा फिर जाग उठी। उनमें उर्दू के सुप्रसिद्ध कवि इकबाल, चकबस्त तथा रत्ननाथ दर 'सरशार' हैं। श्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि उनके पिता श्री मोतीलाल नेहरू तथा तेजबहादुर सप्रू ने भारतीय-ईरानी संस्कृति को सशरीर किया। संस्कृत की उज्ज्वल परम्परा के होते हुए भी कश्मीरियों का मध्य-काल में साहित्यार्चा की ओर ध्यान नहीं गया। उन्नीसवीं शताब्दी में तीन राजवंश बदल गए। दुष्ट शासकों ने अपने राज्यकार्य के सुभीते के लिए लोगों का दमन किया और उनके श्रम, धन एवं संसोधन का पूरा शोषण किया। जनता दुःखी थी। उसको शान्ति देने के लिए ललेश्वरी, नुन्दऋषि, अरनीमाल आदि ने काव्य-रचना की, जिस पर आध्यात्मिकता की गहरी छाप थी। इन्होंने जन-साधारण की भाषा, कश्मीरी, में कविता की और इस प्रकार कश्मीरी साहित्य को जन्म दिया। कश्मीरी भाषा के उद्‌गम के बारे में अधिक नहीं तो इतना कहना आवश्यक ही है कि यह संस्कृत और प्राकृत के मिश्रण से बनी है। फिर तिब्बती, हिन्दुस्तानी, फारसी, अरबी आदि भाषाओं से प्रभावित होती रही।

कश्मीरी भाषा का इतिहास वास्तव में कश्मीर की संस्कृति तथा साहित्य का इतिहास है, परन्तु दुःख की बात है कि लोगों ने इसके लिए किसी लिपि को नहीं अपनाया। संस्कृत भाषा के बाद यहाँ अरबी, फारसी, उर्दू आदि का ही ज़ोर रहा, लेकिन कश्मीरियों की अपनी भाषा का किसी ने विकास नहीं किया। लगता है कि पहले अशिक्षित लोगों ने कविता की, जो लिखी नहीं गई। उनकी रचनाएँ लोक-साहित्य थीं जो मुँहजबानी पीढ़ियों से आती चली गईं। इन प्राचीन रचनाओं के कुछ हिस्से अभी ब्याह-शादी के अवसर पर गाए जाते हैं, जिन्हें 'बनवुन' कहते हैं। इनके अतिरिक्त बिरहे और नृत्य-संगीत अत्यन्त जनप्रिय हुए, इनमें दर्द और टीस अधिक है और वेदना का बाहुल्य। ये कृतियाँ उस समय के लोगों की क्षुब्धता को आभासित करती हैं।

ऋतुगीत या लावनी के गीतों के अतिरिक्त, कश्मीरी कविता के दो वर्गीकरण समझे गए हैं—एक तो रहस्यवादी एवं भक्ति-काव्य और दूसरा प्रेम-प्रलाप के गीत। भक्ति-काव्य की रचना ललेश्वरी आदि ने की, किन्तु प्रेम-प्रलाप के गीत, कुछ तो लोक-गीत कहलाये और कुछ हब्बाखातून ने गाए। 'रोफ', 'लोल' गीत आदि इसके रूप माने जाते हैं। लिपि के अभाव के कारण कश्मीरी में गद्य रचना नहीं हुई है। अब भी जो गद्य साहित्य रचा जा रहा है वह फारसी या हिन्दी लिपि पर ही

आश्रित है। कश्मीरी भाषा के लिए उपयुक्त लिपि ढूँढने का प्रयत्न अभी तक सफल नहीं हुआ है। शारदा लिपि जो कश्मीरी भाषा लिखने के लिए पर्याप्त है, अपनाई नहीं जा रही है।

कश्मीरी कविता का परिचय पाठक को अन्यत्र दिया गया है। यहाँ लोक-साहित्य के बारे में कुछ शब्द कहूँगा। पुरानी पोथियों से प्राचीन-साहित्य की झाँकी मिल जाती है, लेकिन लोक-साहित्य का अध्ययन अभी बहुत उथला ही हुआ है। अभी तक उन्नासी लोक-कथाओं का ही संग्रह हो सका है। लोकोक्तियाँ तो भाषा की जान हैं। एक अंग्रेज पादरी ने उनका एक सविस्तार कोष तैयार किया है, जो काफी महत्त्व रखता है। यहाँ एक उदाहरण दे रहा हूँ। लोकोक्ति है "द्राग चलि त दाग चलि ना" अर्थात अकाल का समय बीत जायगा, किन्तु दाग रह जायेंगे।

"पूर्व-काल में कश्मीर में अकाल पड़ा। लोग भूख के कारण मक्खियों की तरह मरने लगे। भूख से पीड़ित एक आदमी को अपनी भुलाई हुई बहन की याद आई, और वह उससे सहायता माँगने के लिए चल पड़ा। जब उसने मकान में प्रवेश किया उस समय उसकी बहन रोटियाँ बना रही थी। बहन ने उसकी कोई आवभगत नहीं की, और ताड़ गई कि वह रोटी की तलाश में ही आया होगा। उसने तवे से गर्म रोटी उठाकर अपनी बगल में छुपाई, लेकिन वह स्थान जल गया। अच्छे दिन फिर लौट आए लेकिन उसका जलने का दाग न गया।"

कश्मीर की लोक-कथाओं का पहला संग्रह हमें 'हातिम नामा' में मिलता है। एक अंग्रेजी पादरी ने कश्मीर के कोने-कोने में घूमकर किसान, मजदूर, पण्डित सबसे बातचीत कर इनका एक संग्रह तैयार किया। महमूद गामी ने 'यूसुफ जलेखाँ', 'लैलामजनूं', 'शीरीन खुसरो', 'जोहराखातून' तथा 'गुलरेज' कहानियों का संकलन किया। कश्मीर की सबसे अधिक लोकप्रिय कथा 'हीमाल नागराय' को वल्लीअल्लाह भट्ट ने अपनी कविता का विषय बनाया और गाँव-गाँव में उसका प्रचार किया। परमानन्द ने 'शिवलगन' और 'सुदामाचरित' की रचना की, और उसके एक शिष्य ने 'नल-दमयन्ती' की कथा को काव्य का रूप दिया। दिवाकर प्रकाश भट्ट ने 'रामावतारचरित' लिखकर एक आवश्यकता को पूरा किया, क्योंकि वह पुस्तक कश्मीरी में रामायण का स्थान पा सकी। इस सुन्दर लोक-साहित्य की ओर बहुत अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है क्योंकि इनके बगैर साहित्य का इतिहास पूरा नहीं होता। इन लोक-कथाओं और भक्ति-रचनाओं में कश्मीरियों की भावनायें तथा अभिज्ञता आभासित होती है।[1]

---

१. देखिए लेखक का लोक-कथा संग्रह, "चिनार के पत्ते", आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६, मूल्य डेढ़ रुपया।

कवियों का ध्यान फिर से करने का मतलब यह स्पष्ट करना है कि रसूलमीर की रचनाओं से प्रभावित होकर ही श्रेष्ठ कवि महजूर ने कविता करना आरम्भ किया था। महाकवि टैगोर ने भी महजूर की रचनाओं की प्रशंसा की है। चूंकि कई लेखकों को अपनी भावनाओं को कश्मीरी में प्रकट करने में सुविधा नहीं दिखाई पड़ी, वे उर्दू भाषा में ही गद्य-रचना करने लगे। उर्दू के प्रमुख कश्मीरी लेखक प्रेमनाथ 'परदेसी' जिनका देहान्त अल्प आयु में हुआ, की याद अभी ताजा है। उनकी कहानियों के संग्रह 'शामोसहर', 'दुनिया हमारी' आदि उर्दू जगत में सम्मानित हुए। वितस्ता (झेलम) के किनारे बैठे, सिगरेट का धुआँ फूँकते हुए मैंने कई बार उनको कहानियाँ लिखते देखा था। उनका जीवन दुखमय ही था। मैंने तब लेखकों की दुनिया में कदम ही रखा था, उनसे बातचीत करने पर मन में उदासी छा जाती थी। कभी-कभी यह सोचकर कि लेखक बनने का प्रतिफल मुफलिसी ही होगा, लेखनी का धँधा छोड़ने को भी मन करता था। लेकिन न जाने किस अज्ञात शक्ति ने मुझे इस नए पथ पर अग्रसर ही किया। लेकिन दुख तो इतना है कि 'परदेसी' के लिए समय की वितस्ता द्रुत गति से बहती गई।

कश्मीर का साहित्य एक ऊँचा पर्वत-शिखर है, जिस पर चढ़ कर मनुष्य-काल के सुदीर्घ स्रोत को बड़ी दूर तक देख सकता है। इसमें कश्मीरियों के उत्थान और पतन की कहानी प्रतिबिम्बित होती है। मनुष्य जाति के अनेक व्यक्ति इस अविच्छिन्न मानव-प्रवाह को निरन्तर आगे ठेलते गए हैं। लगता है कि वितस्ता की गति तीव्र ही रही होगी, वरन् हजारों वर्ष की ऐतिहासिक एवं साहित्यिक परम्परा को अपने साथ एकदम बहाकर ले जाना इसके बस की बात नहीं थी। अब तो नए युग का उदय हुआ है, इसलिए हमारी याचना यही है, कि निरन्तर ही, किन्तु धीरे बहो, वितस्ता!

स्मारक-चिह्न
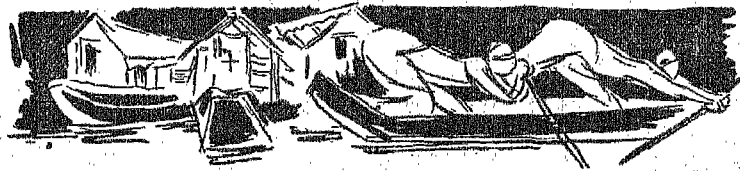
कश्मीर की पुरातन संस्कृति के चिन्ह इस सुरम्य घाटी में इस प्रकार बिखरे हुए हैं, जैसे श्यामल आकाश में तारागण। हालांकि इनमें से अधिकतर खंडहर बनकर रह गए हैं, लेकिन कश्मीर के लिए इनकी इतनी महिमा है जितनी किसी सुन्दरी के लिए आभूषणों की। निर्माण-कला के ज्ञाताओं का मत है कि ये इमारतें भारतवर्ष की संस्कृति की सबसे शोभायमान निशानियां हैं। इनके बनाने में शासकों की भक्ति,

शिल्पकारों के कौशल तथा जनता की भक्तिपूर्ण सेवा का पूरा उपयोग किया मालूम पड़ता है। इनकी विशालता को देख सन्देह होता है कि ये मानव-कृतियाँ ही हैं।

समय के विनाशकारी प्रभाव से कश्मीरी निर्माण-कला के ये नमूने नष्ट-भ्रष्ट हो गए हैं। कुछ तो सिकन्दर 'बुतशिकन' तथा अन्य तास्सुबी शासकों ने गिरा दिये। कश्मीर की जलवायु इमारतों के लिए संहारक है। सर्दियों के पाँच महीने इन पर पाले तथा बर्फ की मार पड़ती है, जिससे बड़े-बड़े पत्थर भी चूर-चूर हो जाते हैं। विध्वंस से बचाने के लिए शिल्पकारों ने बड़े पत्थरों का ही प्रयोग किया, जिस कारण ये अभी अपने स्थान पर टिके हुए हैं। सिकन्दर 'बुतशिकन' ने अपने राज्यकाल में केवल इन इमारतों को तोड़ने का ही काम किया।

कश्मीर में निर्माण-कला ईसवी सन् से कई सौ वर्ष पूर्व फली-फूली, बौद्ध-मन्दिरों तथा विहारों के खण्डहरों की प्रचुरता इस बात की गवाही देती है। किन्तु ललितादित्य का शासन काल इनके लिए गौरव का समय था। प्राचीन काल में कश्मीरियों को 'शास्त्र-शिल्पी' कहा जाता था। कल्हण की राजतरंगिनी में इमारतें बनाने के काम में किसी 'यन्त्र' के प्रयोग का उल्लेख मिलता है, जिसका तात्पर्य यह है कि बड़े पत्थरों के उठाने में किसी मशीन का प्रयोग होता था। निर्माण कला पर बौद्ध-शिल्पियों का प्रभाव तो पड़ा ही, किन्तु यूनानी-कला ने भी इस पर अपनी अमिट छाप डाली। कई विद्वानों का कथन है कि जिस समय सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, कुछ कश्मीरी ईरान तथा यूनान में जाकर बसे। उसी समय कुछ यूनानी भी यहाँ आकर बस गए होंगे। राजतरंगिनी में 'म्लेच्छ' शब्द का प्रयोग भी शायद यूनानियों के लिए ही किया गया है। इसलिए सम्भव है कि प्राचीन काल में कश्मीर और यूनान के बीच राजनैतिक सम्बन्ध होने के कारण यहाँ की शिल्प-कला यूनान से प्रभावित हुई।

कश्मीर तथा तक्षशिला और गान्धार के पुराने सम्बन्ध के बारे में कोई सन्देह नहीं। उष्कर तथा हुविष्कपुरा में बौद्ध-विहारों के खण्डहर मिलते हैं। यहाँ की निर्माण-कला बौद्ध-आन्दोलन से निश्चित ही प्रभावित हुई है। मन्दिर अथवा अन्य स्मारक बनाने के लिए ऊँचे भू-स्थल को ही चुना जाता था, [illegible] से ये सुरक्षित रहें। ऊँचे स्थान पर निर्मित होने के कारण इन मन्दि[illegible] घाटी का चित्र-समान दृश्य दीखता है। भारतवर्ष के अन्य स्मृति-चिन्हों से यह मन्दिर पृथक् है। इनकी छत सूची-स्तम्भ रूप की है जो बर्फ और वर्षा से इनकी रक्षा करती है; त्रिदल के आकार के द्वार तथा चारों ओर ऊँचे स्तम्भों का घेरा ही इनकी विशेषता है। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

अवन्तीपुर

अवन्तीपुर झेलम नदी के दाहिने तट पर श्रीनगर से अनन्तनाग जाने वाली सड़क पर अठारहवें मील पर स्थित है। इस स्थान का नाम पूर्व-काल में

'विश्वऐक्यसार' था। अवन्तीवर्मन (८५५-८८३ ई०) ने यहाँ एक नगर की नींव डाली। इस समय भी अवन्तीपुर का सारा कस्बा पुराने मन्दिरों के खण्डहरों से भरा पड़ा है, जिनमें शिव और विष्णु के मन्दिर प्रमुख हैं। इन्हें अवन्तीस्वामिन तथा अवन्तेश्वर कहते हैं। अवन्तीस्वामिन का मन्दिर अन्य मन्दिरों की अपेक्षा अच्छी दशा में है, इसका प्रवेशद्वार अब भी इसे गौरवान्वित किए हुए है। इसकी विशालता तथा स्थूलपन और कारीगरी को देख बुद्धि दंग रह जाती है। सिकन्दर 'बुतशिकन' ने इसका विध्वंस किया था, लेकिन मेरा विचार है कि बारूद के बगैर इसको तोड़ना सम्भव नहीं था। शायद उसने बारूद तैमूरलंग से लिया होगा। दोनों की आपस में मित्रता थी क्योंकि दोनों का स्वभाव एक-सा था।

मार्तण्ड

कश्मीर के प्राचीन स्मारक-चिन्हों में सर्वश्रेष्ठ, मार्तण्ड का मन्दिर देखे बिना किसी की कश्मीर-यात्रा पूरी नहीं समझी जा सकती। श्रीनगर से ४० मील दूर इस मन्दिर के खण्डहर एक ऊँची पहाड़ी के ऊपर समस्थल पर मिलते हैं। मुख्य मन्दिर ४० फीट से अधिक ऊँचा नहीं, किन्तु इसकी भारी दीवारें, जो अलंकृत स्तम्भ-रेखा की परिक्रमा से बहुत ऊँची हैं तथा इसकी सुन्दर बाहरी रेखा ही इसे प्रभावशाली बनाते हैं। इसका निर्माण विस्तृति से नहीं किया गया है, बल्कि इसकी एक चीज़ स्पष्ट है जो कि इसके महत्त्व को और भी बढ़ाती है।

असली इमारत चतुष्कोण आँगन में बना हुआ बीच का भवन है जिसके दोनों ओर अनुपूरक भवन हैं। ये चारों ओर अलंकृत स्तम्भों की पंक्ति को समाविष्ट करते हैं। मन्दिर ९०४ फीट लम्बा और ३८९ फीट चौड़ा है। अनुमान लगाया गया है कि इसकी ऊँचाई ६० फीट से अधिक रही होगी। मन्दिर का स्तम्भ-रेखा से घिरा हुआ आँगन अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी पर यूनानी निर्माण कला की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। चबूतरे के अन्दर की लम्बाई २२० फीट और चौड़ाई १४२ फीट है।

मार्तण्ड के निर्माण के बारे में कल्हण ने राजतरंगिणी में बताया है कि इसे ललितादित्य (६९९-७३६ ई०) ने बनवाया था। परन्तु इसी ग्रन्थ में अन्य कहीं लिखा है कि मन्दिर रानादित्य ने २२३ ई० में और इसके अनुपूरक भवन रानी अमृत प्रभा ने बनवाए थे। किन्तु साधारणतया लोगों का मत है कि इसके बनाने का गौरव ललितादित्य को ही प्राप्त है।

पान्द्रेठन

श्रीनगर से चार मील दूर बादामी बाग छावनी से आगे पान्द्रेठन का मन्दिर चिनार वाटिका के बीच पानी के तालाब में स्थित है। ये पत्थर का बना हुआ है और इसकी दीवारों पर सुन्दर नक्काशी की हुई है। तालाब का विस्तार ४० वर्ग गज होगा,

जिसमें एक गज गहरा पानी रहता है। मन्दिर तक पहुँचने के लिए उत्तरीय दिशा में १२ फीट लम्बा और २ फीट चौड़ा शिलाखण्ड है, और सरोवर का पानी निकालने के लिए एक नाली खोदी गई। मन्दिर के अन्दर एक शिवलिंग है जो उस समय की कला का द्योतक है। भीतर और बाहर से इसकी दीवारों पर सुन्दर नक्काशी की गई है। कहते हैं कि इसे राजा पार्थ (९०६-२१ ई०) के प्रधान मन्त्री मेरुवर्द्धन ने बनवाया था और विष्णु को समर्पित किया था। पहले-पहल श्रीनगर की नींव यहीं पड़ी थी, फिर प्रवरसेन द्वितीय ने वर्तमान श्रीनगर को बसाया और उसे कश्मीर की राजधानी बनाया।

पटन

श्रीनगर से बारामुल्ला जाने वाली सड़क पर चौदहवें मील के पास पटन स्थान पर दो मन्दिरों के खण्डहर पाए जाते हैं। दोनों कुछ-कुछ मार्तण्ड से मिलते-जुलते हैं। राजतरंगिनी के अनुसार इन मन्दिरों के नाम 'शंकरगौरी,' तथा 'सुगन्धेश्वर' थे और इन्हें अवन्तीवर्मन के पुत्र शंकरवर्मन ने (८८३-९०१ ई०) में बनवाया था। शंकरवर्मन स्वभाव से नीच था। उसने इन मन्दिरों का निर्माण करने के लिए ललितादित्य द्वारा बनाए परिहासपुर (पारसपुर) को तहस-नहस कर वहाँ से उठाए पत्थर आदि का प्रयोग किया। प्रजा इसके आतंक से भयभीत थी इसलिए उसके बसाए नगर को पतन कहकर पुकारती थी। यही शब्द अब पटन बन गया है

पारसपुर

प्राचीन परिहासपुर शादीपुर गाँव से तीन मील की दूरी पर है। इसका निर्माण ललितादित्य मुक्तापीड़ा ने (६९९-७३६ ई०) किया था, लेकिन अब वहाँ खण्डहरों के सिवाय कुछ नजर नहीं आता। पारसपुर में पाँच मन्दिर हैं—एक मुक्तकेशव का जिसमें प्राचीन काल में विष्णु की सोने की प्रतिमा रखी थी, दूसरा परिहास केशव जिसमें विष्णु की चाँदी की मूर्ति थी, तीसरा महावराह जिसमें विष्णु की सोने की प्रतिमा जिरह-बख्तर से लैस, चौथा गोवर्धनधार इसमें भी चाँदी की प्रतिमा थी, और पाँचवाँ राजविहार जिसके अन्दर एक बहुत बड़ा चबूतरा था। ललितादित्य की मृत्यु के पश्चात् इस नगर का धीरे-धीरे संहार हुआ। अवन्तीवर्मन ने कश्मीर घाटी को बाढ़ से बचाने के लिए झेलम नदी के प्रवाह को बदल डाला और सिन्धु नाले का संगम तीन मील परे हट गया। अवन्तीवर्मन का पुत्र वज्रादित्य तो पहले ही वहाँ से प्रस्थान कर गया था। इस कारण पारसपुर की महिमा बिलकुल कम हो गई।

इनके अतिरिक्त अन्य कई प्राचीन मन्दिर देखने योग्य हैं किन्तु मैंने कुछ ही प्रमुख इमारतों का वर्णन इसलिए किया क्योंकि वहाँ आसानी से पहुँचा जा सकता है। प्राचीन स्मारक-चिन्हों का पूरा विवरण देने के लिए पूरी किताब चाहिए।

हारवन में बौद्ध-विहार के खण्डहर तथा बुमजू, वानगट, बूनियार, मानसबल, खोनमूह लोदुव, विजबिहारा आदि के मन्दिर भी देखने योग्य हैं।

मुसलमानों की इमारतें

परीमहल

जबरवन पर्वत की ओट में स्थित परीमहल के खण्डहर डल झील से साफ़ दिखाई पड़ते हैं। झील के किनारे से परीमहल तक एक मील की चढ़ाई है और पैदल आधे घण्टे का रास्ता है। यहाँ शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह ने अपने गुरु अखुन्द मुल्लाशाह के लिए ज्योतिःशास्त्र का एक स्कूल खोला था। किसी समय इसके पास ही एक बाग भी लगा था, जिसमें फव्वारे और नहरें थीं, परन्तु दाराशिकोह का उसके भाई औरंगजेब के हाथों वध होने के बाद यह स्थान उजड़ गया। अब इसकी दशा बिगड़ी हुई है। महल गिर चुका है और बाग का भी नामोनिशान नहीं रहा है।

शाह हमदान

शाह हमदान की मस्जिद श्रीनगर में ही झेलम के किनारे चौथे पुल के पास स्थित है। इसकी निर्माण-कला कुछ विचित्र है और आम मस्जिदों से नहीं मिलती। इसकी नींव हिन्दू मन्दिरों की तरह समकोण चबूतरे पर रखी गई है परन्तु ऊपरी भाग बौद्ध मन्दिर से मिलता-जुलता है। जनश्रुति है कि इस स्थान पर काली का प्राचीन मन्दिर था, जिस कारण हिन्दू भी इसे पवित्र मानते हैं। इसकी एक और विशेषता यह है कि इसके निर्माण में अधिकतर लकड़ी का प्रयोग किया गया है, और अन्दर लकड़ी पर नक़्क़ाशी के सुन्दर नमूने मिलते हैं। एक बार आग लग जाने के कारण इसका पुनर्निमाण हुआ। इसे १४७६ ई० में सुलतान हसनशाह ने बनवाया और १७३१ ई० में आग लग जाने के बाद इसे फिर अबुल बख्तर खाँ ने बनवाया।

पत्थर मस्जिद

इस सुन्दर मस्जिद को नूरजहाँ ने बनवाया था। शाह हमदान की मस्जिद और यह नदी के आर-पार एक दूसरे के आमने-सामने हैं। इसकी नींव जमीन के अन्दर है और इसकी दीवारें ठोस, मेहराबें सुन्दर और कारीगरी प्रशंसनीय हैं।

जैनाकदल और आलीकदल के बीच नदी किनारे पर जैनुलाबदीन की माँ का आलीशान मकबरा है। इसके बनाने में केवल ईंट का ही प्रयोग किया गया है। इसके पाँच गुम्बद हैं जो नीले रंग की ईंटों से अलंकृत हैं। चारों ओर बड़े-बड़े पत्थरों की एक फसील है। मेरा तो विचार है कि मकबरे का निर्माण बौद्ध-विहार के खण्डहरों पर किया गया है। उसका प्रमाण बौद्ध-बिहार की अष्टकोण नींव है जिस पर मकबरा

बना है। दीवारों में चुने हुए पत्थरों में संस्कृत के श्लोक खुदे हुए है, जो मेरी धारणा की पुष्टि करते हैं।

जामा मसजिद

कश्मीर में सबसे बड़ी मस्जिद, श्रीनगर में पाँचवें पुल से कोई आधा मील की दूरी पर स्थित जामा मसजिद है। इसकी निर्माण-कला, शाह हमदान की मस्जिद की तरह बौद्ध-विहारों से प्रभावित है। बौद्ध जन अभी भी इसे पवित्र मानते हैं। सम्भव है कि इस स्थान पर कभी बौद्ध मन्दिर ही रहा हो। इसके चार मीनार दूर से बहुत ही सुन्दर दीखते हैं। अन्दर लकड़ी के स्तम्भों की कतारें, जो छत का भार सहन किए हुए हैं, बहुत ही जँचती हैं। खम्बों की संख्या ३७८ है। इसे सुलतान सिकन्दर ने १४०४ ई० में बनवाया था, लेकिन यह तब से तीन बार आग लग जाने से नष्ट हो गई। जहाँगीर ने १६१६ ई० में इसका निर्माण किया और अन्तिम बार आग लग जाने के बाद औरंगजेब इसे १६७४ ई० में दोबारा बनवाया।

इनके अतिरिक्त मुकद्दुम साहब, चार शरीफ आदि मस्जिदें भी देखने योग्य हैं।

१०. यौवन और आभूषण

दूसरा भाग

कश्मीर घाटी के दर्शनीय-स्थान, तथा जाने के मार्ग

१४
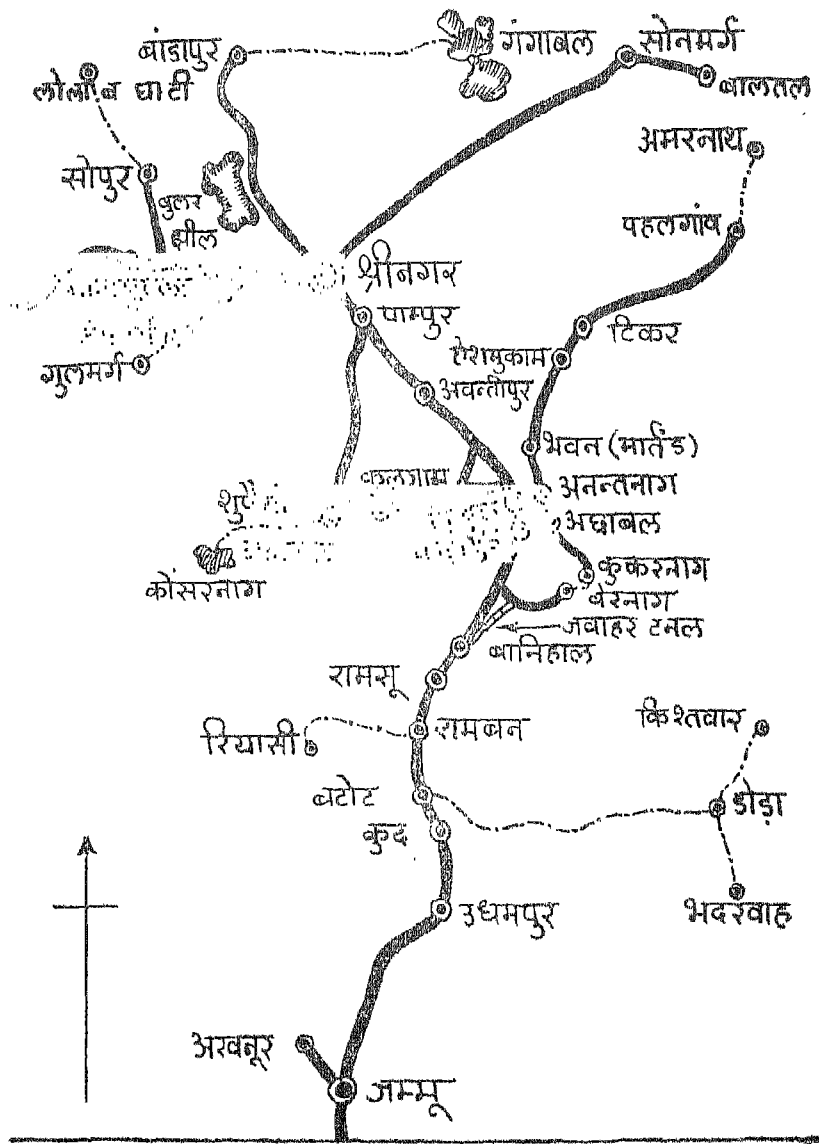
प्राकृतिक छटा

कश्मीर की प्रकृतिक छटा पर जो आधुनिकता का मुलम्मा चढ़ाने का प्रयास हो रहा है, मुझे बुरा लगता है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रति वर्ष सैलानियों की बढ़ती हुई संख्या को ध्यान में रखकर उनके लिए अधिकाधिक सुविधाएँ, पूर्व प्रबन्ध करना आवश्यक है, किन्तु जहाँ तख्ते की जरूरत हो, वहाँ पुल क्यों बनाया जाय। अभी कश्मीर में निर्माण-कार्य का आरम्भ हुआ है, और पर्याप्त धन-राशि नवीन माँगों को पूरा करने और यहाँ की सुन्दरता बढ़ाने में खर्च होगी। परन्तु सुधार की योजना के कारण, प्रकृति की अलौकिक छटा अपनी साधारणता तथा असलियत को कहीं खो न बैठे, मुझे ऐसी आशंका है। कई यात्रियों से मेरी भेंट हुई। वे यातायात, खाने पीने के इन्तजाम, रहने की सुविधा आदि की माँग अवश्य ही करते हैं। कईयों को यूँ भी कहते सुना, कि अगर झील के किनारे बैठकर, चंचल लहरियों की राकेश संग क्रीड़ा का दृश्य सुहावना लगता है, तो बिजली के 'बल्ब' क्यों लगाए जायें। उन्हें यह भी नहीं जँचता कि पहाड़ी स्थान पर आधुनिक सभ्यता के सारे साधन पहुँचाए जायें मैं यह नहीं कहता कि ऐसी प्रवृत्ति जोरों पर है, लेकिन बात ध्यान में रखने योग्य है

कि निर्माण-कार्य करने से मनोरम घाटियों के शान्त वातावरण में विघ्न न पड़े और ऐसा न लगे जैसे प्रकृति उपद्रव कर रही है।

यहाँ प्रसंग कश्मीर की घाटियों का आया है। अक्सर लोग कश्मीर केवल गर्मी से बचने के लिए ही नहीं आते, किन्तु निस्तब्ध वातावरण में अपने मन को शान्ति देने के लिए, जो इस युग में किसी भी मूल्य पर प्राप्त नहीं की जा सकती है। क्षुब्ध प्राण लिए रम्य घाटियों में अपने को भूल कर ही वे अपनी इन्द्रियों को सुख पहुँचा सकते हैं। कश्मीर आने में मजा ही क्या, जो मनुष्य हलचल से दूर न रह सके। इसे झीलों, नदियों, पहाड़ों और फूलों की भूमि कहकर पुकारना ठीक ही होगा। अभी 'स्टीम-बोट' ने झीलों पर आक्रमण नहीं किया है। इनकी शान्त लहरों पर शिकारा नौकाएँ ही तैरती नजर आयेंगी। बड़ी 'डूंगा' किश्ती के तैरने का भी अपना ही ढंग है—शान्त, ओजपूर्ण।

डल झील श्रीनगर के पास ही है। इसकी लम्बाई करीब पाँच मील है और यह १० वर्ग मील में फैली हुई है। एक कृत्रिम बाँध अथवा मार्ग द्वारा यह दो भागों में बँट गई है—छोटा डल और बड़ा डल। इसके पानी को श्रीनगर के कोने-कोने में नहरों द्वारा पहुँचाया गया है। चारों ओर से डल पर्वत-माला से घिरा हुआ है, और दो 'डलों' के अन्दर दो द्वीप सोनालंक और रूपालंक इसकी शोभा को बढ़ाते हैं।

मुर्गाबी, बत्तख आदि के शिकार के लिए आंचार झील जैसा उत्तम स्थान दूसरा कोई नहीं। सर्दियों में यहाँ पक्षी बहुतायत से मिलते हैं और गर्मियों में कमल दल मुसकराते नजर आते हैं। आंचार झील का रास्ता, जैनुलाबदीन द्वारा बनवाई 'मार' नहर से होकर जाता है। गर्मियों में जब पहाड़ों पर बर्फ पिघलती है तो इसमें पानी की मात्रा बढ़ जाती है और इसकी लम्बाई करीब तीन मील हो जाती है।

भारतवर्ष में सबसे बड़ी मीठे पानी की वुलर झील श्रीनगर से कोई २५ मील की दूरी पर है। गर्मियों में इसकी लम्बाई १५ मील तक बढ़ जाती है। इसमें घास-पात, कमल, नदरू सिंघाड़े काफी उगते हैं और मछलियों की कोई कमी नहीं। प्रतिवर्ष हजारों मन मछली इसमें पकड़ी जाती हैं, जो श्रीनगर के बाजारों में बिकती हैं। माहसीर मछली, जो समुद्र से लम्बी यात्रा कर इसके ठंडे पानी में आश्रय लेने आती है, के शिकार के लिए यह झील प्रसिद्ध है। ऊँचे पहाड़ों से घिरी हुई होने के कारण इसका स्वभाव बदलता रहता है, और अक्सर दोपहर के बाद इसमें तूफान आते हैं। डूंगा किश्तियाँ और हाऊसबोट भी इसमें तैर सकते हैं, लेकिन आम तौर से शिकारे का ही प्रयोग होता है और यात्रा सुबह सवेरे ही की जाती है।

वुलर झील के बीच एक छोटा द्वीप सोनालंक है, जहाँ प्राचीन हिन्दू मन्दिर के खण्डहर मिलते हैं। जैनुलाबदीन ने इन्हीं टूटे-फूटे पत्थरों से द्वीप को समतल बनाकर ऊँचा किया, ताकि तूफ़ान के समय नौकाएँ यहाँ आश्रय ले सकें। तब से

इसको सोनालंक और जैनाडब दोनों ही नामों से पुकारा जाता है। मिर्जा हैदर ने लिखा है कि इस स्थान पर विलासी शासक मनोविनोद के लिए आते थे।

मानसबल झील श्रीनगर से १८ मील की दूरी पर सुम्बल गाँव के पास स्थित है। मेरे विचार में डल झील को छोड़, यह कश्मीर की सबसे सुन्दर झील है। इसका नजारा पास ही की पहाड़ी से, जिसके ऊपर से बांडीपुर जाने वाली सड़क जाती है, बहुत सुन्दर दीखता है। इसके उत्तरीय तट पर मुगलों के बाग के खण्डहर मिलते हैं। अगस्त के महीने में सारा सरोवर कमल-पुष्पों से भर जाता है।

पहाड़ी झीलों में गंगाबल सबसे अधिक सुन्दर मानी जाती है। इसकी धार्मिक महिमा भी है, क्योंकि प्रतिवर्ष गर्मियों में यहाँ यात्री आते हैं। झील ११,७१४ फीट की ऊँचाई पर हरमुख पर्वत के निकट ही स्थित है। इसका घेरा पाँच मील के करीब है। पानी गहरे नीले रंग का बहुत ही स्वादिष्ट है। तारसर और मारसर झीलें कोलाहाई घाटी में १२,५०० फीट की ऊँचाई पर पहलगाँव से २४ मील की दूरी पर है। कोलाहाई (१८,००० फीट) जाते समय रास्ते में सोनासर, चान्दासर, होकरस तथा दोधसर छोटी-छोटी झीलों के दर्शन भी होते हैं। शेषनाग झील का वर्णन अन्य कहीं किया गया है। कौंसरनाग सरोवर १२,००० फीट की ऊँचाई पर है, और शायद कश्मीर की सबसे गहरी झील है। इसकी गहराई १५० फीट से भी अधिक होगी। जून के महीने में भी इसमें हिमखण्ड तैरते हुए दिखाई देते हैं। कौंसरनाग जाने के लिए पहले श्रीनगर से ३४ मील दूर शुपैयाँ जाना पड़ता है, और वहाँ से आगे रास्ते में अहरबल जलप्रपात तथा कुँगवटन पड़ते हैं। लद्दाख की पेगोंग झील करीब आठ मील लम्बी खारे पानी की झील है जो लद्दाख-तिब्बत सीमा के पास ही स्थित है।

मैंने पहले कश्मीर की छोटी उपत्यकाओं की ओर संकेत किया है। कश्मीर घाटी कोई ८५ मील लम्बी और ज्यादा से ज्यादा २५ मील चौड़ी है। झेलम नदी इसके बीचों बीच गुजरकर इसको दो हिस्सों में बाँट देती है। गर्मियों में हर तरह हरियाली नजर आती है, पतझड़ में फूलों तथा रंग-बिरंगे वृक्षों का दृश्य और सर्दियों में इसके ऊपर रजत आवरण-सा रहता है। अन्य छोटी घाटियाँ जिनमें लिद्दर सिन्ध तथा लोलाभ हैं, देखने योग्य हैं। लिद्दर घाटी के बीच पहलगाँव स्थित है। इस घाटी की जलवायु गर्मियों में सुखदायक है, इसलिए लोगों को आकर्षित करती है। कोलाहाई ग्लेशियर के पास से निकलती हुई लिद्दर नदी इसके बीचों-बीच जोर-शोर से बहती है और अन्य छोटे पर्वतीय झरने इसकी विस्तृति पर क्रीड़ा करते हैं। पहल-गाँव के पास दो नदियों का आपस में संगम होता है और यहीं से घाटी दो हिस्सों में बँट जाती है। एक हिस्सा अमरनाथ की ओर और दूसरा कोलाहाई की ओर फैला हुआ है।

सिन्ध घाटी इन सब में सब से बड़ी है। इसके ६० मील के विस्तार में लहलहाते खेत, घने जंगल, ठंडे पानी के चश्मे, सभी के लिए स्थान है। इसका ऊपरी भाग जहाँ

सिन्ध नदी तीव्र गति से बहती है, अधिक मनोरम है। गांधरबल से आरम्भ होकर यह बालतल तक चली गई है, जहाँ से लद्दाख जाने का रास्ता शुरू होता है। गांधरबल श्रीनगर से १२ मील है, और वहाँ तक नौका द्वारा आंचार झील से होकर भी जाया जा सकता है। आगे रास्ता कगन तथा सोनामर्ग से होता हुआ जाता है। सोनामर्ग प्रसिद्ध पहाड़ी स्थान है। यहाँ से गंगाबल झील आसानी से पहुँचा जा सकता है। पर्वतारोहन करने के लिए यह स्थान उपयुक्त है। यहाँ से पहलगाँव भी पहुँचा जा सकता है, लेकिन ऊँचे पहाड़ों से होकर जाना पड़ता है।

लोलाब घाटी में पहुँचकर ऐसा लगता है जैसे किसी मुग़ल बाग में आ गए हों, क्योंकि यह बारहदरियों में बँटी सी दिखाई देती है। वास्तव में यह छोटे-छोटे भूमि स्थलों का समूह, सीढ़ी की तरह क्रमबद्ध, लोलाब के नाम से ही सुविख्यात है। प्रत्येक छोटी घाटी हरियाली से परिपूर्ण, चिनार और अखरोट के पेड़ों से आच्छादित, मनोहर लगती है। बसन्तकाल में पेड़ों का पुष्पावरण देखने योग्य होता है। लोलाब की ऊँचाई करीब ८,००० फीट है, गर्मियों में यहाँ का मौसम सुहावना होता है।

झीलों तथा घाटियों के साथ, कश्मीर की वन-राशि के विषय में कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है। पहाड़ों से घिरी हुई इस घाटी में जंगलों का बहुतायत है, जिससे सरकार को काफी आय होती है। चीड़, देवदारू, जैतून, बलूत आदि पेड़ों से जंगल भरे पड़े हैं। लेकिन जहाँ पेड़ों को काटने का काम जोरों पर है, वहाँ नए पेड़ लगाने की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा रहा है। इसलिए जंगलों का विध्वंस हो रहा है। पिछले एक सौ वर्ष के जलवायु के आंकड़े देखने से पता चलता है कि वनों का विनाश होने के कारण घाटी की जलवायु में काफी परिवर्तन हुआ है। सर्दियों में पहले की अपेक्षा कम बर्फ पड़ती है, इसलिए गर्मियों में नदी नालों में पानी कम होता जाता है, और हवा में नमी कम होती जाती है। कश्मीर में वनों का संहार इस तरह कितनी देर होता रहेगा, यह वहाँ की सरकार ही कह सकती है। यदि नए पौधे लगाने का कार्य हाथ में न लिया गया, तो लगता है कि सोने के अंडे देने वाली मुर्गी को मारने की-सी बात होगी।

भोजपत्र, जिसकी छाल पर प्राचीन पोथियाँ लिखी गई हैं, ११,००० फीट की ऊँचाई से ऊपर मिलता है। किश्तवार और भदरवाह भोजपत्र के घने जंगलों के लिए प्रसिद्ध हैं। देवदारू के जंगल राज्य के हर हिस्से में फैले हुए हैं, विशेषकर सोनामर्ग, गुलमर्ग, लोलाब और शुपैयाँ के आस-पास। चीड़ की लकड़ी जलाने और कोयला बनाने के काम आती है। इसकी राल औषधियों में इस्तेमाल होती है। जैतून की लकड़ी मकान आदि बनाने के काम आती है। देवदारु की लकड़ी मजबूती और अन्य गुणों के कारण प्रसिद्ध है।

वनों में जड़ी बूटियों की उत्पत्ति भी होती है। इन सब में 'बैलाडोना' की अधिक माँग है। कश्मीर की ड्रग रिसर्च लेबोरेटरी में इस बूटी से अनेक दवाइयाँ बनती हैं।

बाह्य देशों में इसकी बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए टंगमर्ग में अब इसकी खेती भी होने लगी है।

चिनार

चिनार कश्मीर का सबसे अधिक शोभायमान पेड़ है, जो संसार भर में प्रसिद्ध है। कश्मीर में सब से पुराना मुगलों का बाग़, नसीम, वास्तव में चिनार वाटिका ही है। दोपहर के समय भी इस बाग में सूर्य के दर्शन नहीं होते, क्योंकि पेड़ सघन हैं। कश्मीर घाटी में कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ चिनार की छटा दिखाई न पड़े। ऊँचाई में ७० फीट से भी अधिक होता है और कभी-कभी इसके तने का नाप ६० फीट से ज्यादा हो जाता है। चिनार जहाँ गर्मियों में ठंडक पहुँचाता है, वहाँ सर्दियों में यह गर्मी पहुँचाने का साधन है। पतझड़ में इस पेड़ के लाल-सुनहरे पत्ते गिरते हैं, जिनको इकट्ठा कर कश्मीरी एक विशेष प्रकार का कोथला बनाते हैं, जिसका प्रयोग वे कांगरियों में करते हैं। कहा जाता है कि चिनार को मुगल शासक ईरान से ले आये थे।

चिनार निस्सन्देह ही श्रेष्ठ है। इसे काटने की आज्ञा नहीं है। इसकी लकड़ी बहुत मजबूत और सुन्दर है और सामान बनाने के काम आती है। इस पर बहुत अच्छी पालिश चढ़ती है। चाहे इतिहास के पन्ने मिट भी जायें, चिनार सदा मुग़ल राज्य की याद दिलाता रहेगा। इसके अतिरिक्त तूत के पेड़ों को काटने की भी आज्ञा नहीं है। इस पर रेशम के कीड़े पलते हैं। कश्मीर में रेशम एक बड़ा उद्योग है। अखरोट की लकड़ी मिलना भी मुश्किल है क्योंकि कश्मीर में लकड़ी का सारा सुन्दर सामान इसी का बनता है।

सफेदे के वृक्ष सैलानी का कश्मीर पहुँचते ही स्वागत करते हैं। सड़क के दोनों ओर ७०-८० फीट ऊँचे वृक्षों की कतारें बड़ी मनभावन लगती हैं। इसकी लकड़ी हल्की होने के कारण फलों के लिए पेटी बनाने के काम आती है। बेद के पेड़ भारत के अन्य किसी प्रान्त में नहीं मिलते। अक्सर झीलों या नदियों के किनारे उगते हैं, क्योंकि इन्हें काफी पानी चाहिए। श्रीनगर में मार नहर और डल झील से निकलती अन्य नहरों के दोनों ओर हजारों पेड़ों की शाखाएँ पानी का स्पर्श करती हुई दिखाई पड़ती हैं। बेद में लचक है जिस कारण कश्मीरियों में यह कहावत मशहूर है—'नम्रता हो तो बेद की सी।' इसकी पतली-पतली शाखाएँ टोकरियाँ आदि बनाने के काम आती हैं। इसकी लकड़ी का प्रयोग घरों में जलाने में भी होता है। कश्मीरी कोयले का प्रयोग नहीं करते, क्योंकि यह वहाँ उपलब्ध नहीं है। बेद की नरम टहनियों और पत्तियों को सुखाया जाता है जो सर्दियों में पशुओं के लिए चारे का काम देती हैं।

तीर्थ स्थान

पुण्य-भूमि कश्मीर में तीर्थ-स्थानों की कमी ही क्या ! मनोरम घाटी में शायद ही कोई ऐसा गाँव या नगर होगा, जहाँ प्राचीन मन्दिर न हो। ये टूटे-फूटे देवगृह पुरातन सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्परा के अमिट चिन्ह हैं। हिन्दू शासकों का राज्य निर्माण-कला के लिए सुनहरी काल था और उस समय बहुत मन्दिर बनवाए गए थे, जिनमें कुछ कालान्तर में बड़े-बड़े तीर्थ बन गए। धार्मिक प्रचारकों तथा श्रेष्ठ मुनियों ने इनमें आकर उपासना की। जहाँ उनका पड़ाव पड़ा, वही पुन्य-स्थान बन गया।

यद्यपि प्राचीन-काल में कश्मीर में बौद्ध-धर्म फला-फूला, लेकिन उस समय भी ब्राह्मणों का धार्मिक-सम्प्रदाय जोरों पर था। बौद्ध-मन्दिरों के साथ-साथ हिन्दुओं के मन्दिर भी बनते गए और दोनों में उपासना करने की रीति भी कुछ एक जैसी थी। कहा जाता है कि किसी देश की अवनति का कारण उसकी धार्मिक परम्परा का ह्रास होना है। इस पर मत-भेद भी हो सकता है। बहुत से तासुबी शासकों के बार-बार के आक्रमणों से तंग आकर कश्मीरी अपनी धर्म-तत्परता से परे हट गए, जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपनी आजादी के साथ ही उन्नति का मार्ग भी खोया और सदियों गुलाम रहे। मैं पण्डों के मिथ्या-धर्म की बात नहीं करता, किन्तु सत्य धर्म की, जिस पर संस्कृति आश्रित है।

प्रस्तुत लेख में मैंने कश्मीर के कुछ ऐसे तीर्थ-स्थानों का वर्णन किया है जहाँ प्रति वर्ष हजारों यात्री जाते हैं।

अमरनाथ

जुलाई-अगस्त में प्रतिवर्ष पहलगाँव में तीर्थ-यात्रियों की भीड़ लग जाती है, जिनका लक्ष्य हिमाच्छादित पर्वतों की संकीर्ण घाटी में स्थित अमरनाथ की गुफा होता है। पहलगाँव तक यात्री बस द्वारा पहुँच जाते हैं। सबके मन में अमरनाथ गुफा में बर्फ के आत्मनिर्मित शिवलिंग के श्रावण-पूर्णिमा के दिन दर्शन करने की अभिलाषा होती है। अक्सर यात्री पैदल ही जाते हैं, श्रद्धालू यही सोचते हैं कि जितना ही अधिक उन्हें कष्ट पहुँचे, उतना ही अच्छा उन्हें फल प्राप्त होगा। घोड़े तथा पालकियों पर यात्रा करने वालों की संख्या बहुत ही कम होती है।

यात्रा के समय सरकार द्वारा काफी इन्तजाम किया जाता है और सड़क को ठीक किया जाता है। घोड़े, तम्बू तथा खान-पान की चीजें पहलगाँव में बहुत मिलती हैं। खुले स्थान में तम्बू लगाकर यात्री और साधु साथ-साथ ही बैठते हैं। चाँदी की 'छड़ी' सबसे बड़े पुजारी के हाथ में दी जाती है, किसी यात्री को पुजारी से आगे निकलने की आज्ञा नहीं होता है। यात्रियों का विश्वास है कि यह 'छड़ी' उन्हें यात्रा में संकट से बचाती है। देश के कोने-कोने से लोग आते हैं। उनकी भाषायें अलग, वेश-भूषा भिन्न-भिन्न, किन्तु सब एक ही सूत्र में बँधे हुए।

पहले दिन सुबह प्रस्थान कर चन्दनवारी पहुँच जाते हैं, जो पहलगाँव से आठ मील की दूरी पर है। रास्ता घने जंगल में से होकर लिद्दर नदी के किनारे-किनारे जाता है। यहाँ से आगे चढ़ाई कठिन है। चन्दनवारी का बर्फ का पुल देखने योग्य है। यहाँ तम्बू लगाने के लिए काफी खुला स्थान है। यात्रियों के पहुँचते ही बाजार लग जाता है, जहाँ खाने-पीने की चीजें तथा हवन-सामग्री आदि मिलती हैं। टीन के छप्पर वाले 'शेड' भी यहाँ बनाए गए हैं जिनमें साधु लोग ही रहते हैं। रात को विश्राम करने से देह में स्फूर्ति आ जाती है। सन्ध्या के समय अस्त होते सूर्य की रश्मियाँ पहाड़ों की ऊँची बर्फीली ढलानों का सुवर्ण-रंजन करती हैं। वहाँ से लिद्दर घाटी का यदि अवलोकन किया जाय तो दूर धुँधलके में वनस्पतियों के बीच गूजरों की कुटियों में टिमटिमाते दीपों का दृश्य बहुत ही सुहावना लगता है।

दूसरे दिन प्रातः यात्री शेषनाग की ओर प्रस्थान करते हैं। रास्ता दुष्कर है और तीन मील तक कहीं कोई पेड़ दृष्टिगोचर नहीं होता। अन्य प्रदेशों से आने वाले यात्री अक्सर सोचते हैं कि पहाड़ों पर धूप इतनी प्रचण्ड नहीं होती होगी, जितनी अन्य स्थानों पर। किन्तु 'पिस्सू' घाटी के इस तीन मील के रास्ते पर धूप में चलने के लिए कड़े साहस की जरूरत है। कभी-कभी गर्मी का जोर इतना बढ़ता है कि चलना मुश्किल हो जाता है। लेकिन भाँति-भाँति के वन-कुसुमों तथा जड़ी-बूटियों की सुगन्ध मादकता लाती है। जाजीपल पहुँचने पर चश्मे के ठण्डे पानी से सभी अपनी प्यास मिटाते हैं। सारे दिन के सफ़र के बाद शेषनाग की झील ११,७३० फीट

की ऊँचाई पर दिखाई पड़ती है। सरोवर के चारों ओर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ सतर्क प्रहरी से खड़े हैं। शेषनाग ग्लेशियर से अमृत समान पानी के प्रवाह का नज़ारा देखने योग्य है। इसमें स्नान करने का सौभाग्य बहुत कम लोगों को प्राप्त होता है क्योंकि इसका पानी इतना ठण्डा है कि उसमें नहाया नहीं जा सकता है। रात को सहस्रों दीपों की मालिका तथा अलावों के जलने की ललाई सुन्दर लगती है। शान्तिपूर्ण वातावरण में हलचल वर्ष में एक बार यात्री ही लाते हैं, वरना यहाँ शान्ति का ही चिर-साम्राज्य है।

तीसरे दिन महागुनस दर्रे (१४,००० फीट) के बीच से होकर पंजतरनी पहुँचने के लिए लिद्दर नदी तथा सिन्धु नदी को पार करना पड़ता है। दर्रे को पार करते समय पश्चिम की ओर एक ग्लेशियर दिखाई पड़ता है। पूर्वकाल में यात्री उसी ग्लेशियर के ऊपर से होकर जाते थे। उसके साथ ही एक जमी हुई झील 'हत्यारा तालाब' भी है। सुनने में आया है कि एक बार एवलांश गिरने से इस स्थान पर छः सौ यात्रियों की मृत्यु हुई थी।

महागुनस को पार करते समय कई यात्री साँस लेने में दिक्कत का अनुभव करते हैं। बूढ़े लोगों के लिए यह रास्ता और भी कठिन है। किन्तु यात्रियों में अधिकतर अधेड़ अवस्था के लोग ही पाए जाते हैं। यह आश्चर्य की बात है। इनके साहस का स्रोत उनकी दृढ़ निष्ठा ही है। ज़ोर से साँस लेते हुए छड़ियों के सहारे चलते, कदम-कदम पर रुकते हुए वे सहनशीलता के पुतले-से लगते हैं। उनके आगे नवयुवकों की आँखें नीची होती हैं, क्योंकि वे अक्सर घुड़सवारी करते हैं। रास्ते में वन-पुष्पों की बहुतायत है, कई स्थानों पर फूलों के अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता है। जब भुवन-भास्कर की अस्त-कालीन रश्मियाँ प्रतीची का चुम्बन करती हैं और यात्री चलकर शिथिल पड़ जाते हैं तब कहीं पंचतरनी पहुँचते हैं। यहाँ अमरावती नदी पाँच हिस्सों में बँट जाती है। पुराणों के अनुसार शिव ने ताण्डव-नृत्य यहीं रचाया था और नाचते-नाचते उनकी जटा बिखर गई थी, और तब भागीरथी का प्रवाह हुआ था।

अमरनाथ की गुफा पंचतरनी से करीब चार मील की दूरी पर है। मार्ग बहुत संकीर्ण है, घोड़ों को इस पगडण्डी पर से होकर जाते देख आश्चर्य होता है। सारा रास्ता बर्फ से ढका रहता है और यहाँ हमेशा एवलांश के गिरने का भय रहता है। कभी-कभी तो पिघलती हुई बर्फ से पानी छूटने पर रास्ता गायब हो जाता है, लेकिन मज़दूर उसे तुरन्त ही ठीक कर लेते हैं।

गुफा के समीप रास्ता काफी चौड़ा है। श्रावण-पूर्णिमा के दिन प्रातः पंजतरनी में स्नान कर जब यात्री गुफा की ओर चल पड़ते हैं तो 'हर-हर महादेव' की ध्वनि से दिशाएँ निनादित हो उठती हैं। अमरभूत (जिपसम) को सारे शरीर पर मल कर दर्शन के लिए गुफा में प्रवेश करते हैं। गुफा करीब १५० फीट चौड़ी

और इतनी ही ऊँची है जिसके अन्दर एक बर्फ का आत्मनिर्मित शिवलिंग है जो चन्द्रमा के साथ घटता और बढ़ता है। सुना है कि पूर्णमासी के दिन शिवलिंग का आकार बड़ा होता है और अमावस तक घटते-घटते बहुत छोटा रह जाता है। लिंग के पास ही बर्फ के तीन छोटे लिंग, शिव, पार्वती और गणेश के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इस गुफा से सम्बन्धित बहुत-सी पौराणिक गाथाएँ हैं। सुनने में आया है कि जब शिव सृष्टि का रहस्य पार्वती को समझा रहे थे, तो कबूतरों की एक जोड़ी ने उनकी बातें अकस्मात् सुन लीं, और वह अमर हो गई। कबूतरों की जोड़ियाँ अब भी श्रावण-पूर्णिमा के दिन गुफा में से बाहर निकल आती हैं। यात्री उन्हें शिव का ही एक स्वरूप मानकर देख प्रसन्न होते हैं। इस भक्ति के वातावरण में कोई भी ऐसा प्राणी नहीं होगा जिसके क्षुब्ध प्राण शान्ति न प्राप्त कर सकें। स्वामी विवेकानन्द ने तो सच ही कहा था, 'यहाँ तो सब भक्ति-ही-भक्ति है।'

शिवलिंग का दर्शन कर यात्री पहलगाँव लौटने के लिए बेचैन हो जाते हैं। कुछ तो एक ही दिन में सारा रास्ता काट लेते हैं, लेकिन अक्सर लोग रात को चन्दनवारी में पड़ाव डालते हैं और दूसरे दिन पहलगाँव पहुँच जाते हैं।

यात्रियों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अपने साथ काफी गर्म कपड़े, कम्बल आदि ले जायें। ऊँचे पहाड़ों पर गर्मियों में भी काफी सर्दी पड़ती है और मौसम बिगड़ जाने पर निमोनिया आदि बीमारियाँ होने का भय रहता है।

वैष्णव देवी

डोगरा शूरवीरों की जन्म-भूमि सैकड़ों वर्ष से वैष्णव देवी के तीर्थ से पवित्र होती आई है। त्रिकुटा भगवती का यह पुण्य-स्थान जम्मू प्रान्त में ५,३०० फीट की ऊँचाई पर नयनाभिराम पर्वतमाला के बीच स्थित है। यहाँ प्रतिवर्ष सैकड़ों यात्री ईश्वराधना के लिए आते हैं। वैष्णव देवी की गुफा अमरनाथ की गुफा के मुकाबले में छोटी है। लम्बाई में करीब १०० फीट होगी, लेकिन इसमें प्रवेश करने का मार्ग संकीर्ण है। इसके अन्दर छोटी-सी नदी, चरणगंगा देवी की प्रतिमा के पास से होकर बहती है। मूर्ति तक पहुँचने के लिए इसी नदी में से गुजरना पड़ता है, लेकिन इसमें पानी थोड़ा होता है। एक साथ गुफा में केवल पन्द्रह आदमी जा सकते हैं।

गुफा के बाहर बड़ा चबूतरा है जिसे 'विष्णु दरबार' कहते हैं। इस स्थान पर यात्री होम आदि करते हैं। रात के समय यात्री कीर्तन करते हुए अपनी थकान मिटाते हैं। पास ही एक तिमंजिला विश्राम-गृह भी है जिसमें एक साथ १००० यात्री रह सकते हैं। यात्रा के दिनों में चाय, भोजन आदि की दूकानें लग जाती हैं जो यात्रियों को स्वयं खाना पकाने के झंझट से बचाती हैं।

इस पुण्य-स्थान से सम्बन्धित परम्परागत कथाएँ प्रचलित हैं। कहते हैं कि वैष्णव देवी अदकुवरी पर्वत पर रहती थी, उससे एक राक्षस भीरु जबरदस्ती

विवाह करना चाहता था। राक्षस ने देवी का पीछा किया, किन्तु देवी ने उसका वध कर स्वयं गुफा में आश्रय लिया। गुफा तक पहुँचने का रास्ता तैयार किया गया है, लेकिन कटरा कस्बे से आगे पैदल ही जाना पड़ता है। जम्मू से कटरा तक २६ मील की दूरी है, और इस रास्ते पर बस-सर्विस चालू है।

कटरा २६१८ फीट की ऊँचाई पर त्रिकुटा पहाड़ी के दामन में स्थित है। बिजली के आने से इसकी रौनक बढ़ी हुई है और कई पार्क बन जाने से यह स्थान स्वच्छ लगने लगा है। यात्रियों को यहाँ के लोग अपने घरों में ही ठहराते हैं। कुछ सरायें भी हैं पर उनमें रहने के लिए काफी जगह नहीं है। कटरा से गुफा तक सामान ढोने के लिए मजदूरों का प्रबन्ध सरकार द्वारा किया जाता है।

कटरा से आगे पहला पड़ाव बालगंगा पड़ता है, जहाँ यात्री नदी में स्नान करते हैं। चरणपादुका कटरा से डेढ़ मील की दूरी पर है, यहाँ यात्रियों के ठहरने के लिए एक 'शेड' बनवाया गया है। एक मील और चलकर ४,७८४ फीट ऊँचा स्थान अदकुमारी आता है, जहाँ यात्री रात को विश्राम करते हैं। इस स्थान पर दो सौ लोगों के ठहरने की गुंजाइश है। दूध, फल तथा भोजन पास ही बाजार में सुविधा से प्राप्त किए जा सकते हैं। यहाँ यात्री एक छोटी गुफा से गुजरते हैं, जिससे उनके विचार में उन्हें मोक्ष प्राप्त होता है।

अदकुमारी से आगे कठिन पहाड़ी-मार्ग आता है। हाथीमत्था (६,२०० फीट) तक की चढ़ाई बहुत कठिन है। आगे सांजीछत (७२१५ फीट) को छोड़कर भैरवघाटी में से गुजरना पड़ता है यहाँ से भैरवघाटी तक का रास्ता सुहावने जंगल में से होकर जाता है। दूर से जब वैष्णव देवी की गुफा दृष्टिगोचर होती है तो बरबस ही यात्रियों के मुँह से 'जय माता की' ध्वनि होती है। डेढ़ मील का यह रास्ता चीड़ के विशाल वन 'माता का बाग' में से होकर जाता है। सड़क के दोनों ओर सुन्दर ग्रामीण बालिकायें देवी की स्तुति करती दिखाई पड़ती हैं। देवी का दर्शन करने के पश्चात् हर यात्री कटरा के भवनेश्वरी मन्दिर में कन्या-पूजन करता है। तब ही यात्रा सफल मानी जाती है।

क्षीरभवानी

तुलामुला अथवा क्षीरभवानी को कश्मीरी हिन्दू पवित्र मानते हैं। इस स्थान पर एक चश्मा है जिसके पानी का रंग निःसन्देह बदलता रहता है, कभी नीला, कभी लाल और कभी हरा। कल्हण की राजतरंगिनी में जयापीड द्वारा तुलामुला के पण्डितों की जागीरें छीन लेने का प्रसंग आता है, जिससे पता चलता है कि यह तीर्थ बहुत पुराना है। मुसलमान शासकों के राज्यकाल में हिन्दुओं के लिए यह तीर्थ वर्जित था, और लोग धीरे-धीरे इसको भुला बैठे थे। कोई ४०० वर्ष पूर्व श्री कृष्ण पण्डित टपिलू ने इसे ढूँढ निकाला, तब से लोग यहाँ फिर आने-जाने लगे।

लोग क्षीरभवानी के चश्मे में दूध, चावल तथा मिठाई डालते हैं, परन्तु पानी का निकास न होने की वजह से यह तुरन्त भर जाता है। चश्मे को साफ करने का काम १८६७ ई० में दीवान नरसिंह दयाल ने किया। उस वर्ष कश्मीर में भयंकर हैजे की बीमारी फैली और अकाल पड़ा। कई लोगों ने सोचा कि चश्मे को साफ करने से देवी कुपित हो गई, और लोगों के ऊपर आपत्ति आई। दुबारा किसी की हिम्मत न पड़ी कि चश्मे को साफ कर सके। नतीजा यह हुआ कि यह फूल आदि से भर गया और इसका पानी सूख गया। उससे लोगों में काफी घबराहट हुई। फिर श्री विधलाल दर ने साहस बटोर कर चश्मे को गहरा किया। नीचे एक प्राचीन मन्दिर के खण्डहर मिले। फिर उस मन्दिर की मरम्मत कर उसके ऊपर एक नया मन्दिर बनाया गया, और इस स्थान पर अन्य सुधार किए गए।

तुलामुला श्रीनगर से १४ मील दूर है और वहाँ तक मोटर का रास्ता है।

रिवन

श्रीनगर से दक्षिण पूर्व दिशा में ९ मील की दूरी पर एक सुन्दर स्थान खोनमूह आता है, जो महाकवि बिल्हण का जन्मस्थान होने के कारण प्रसिद्ध है। बिल्हण हर्ष के राज्यकाल में (१००३-८९ ई०) कश्मीर से प्रस्थान कर गया और उसने विक्रमादित्य त्रिभुवनमल के राज्य-दरबार में आश्रय लिया। त्रिभुवनमल कल्याण पर १०७६ ई० से ११२७ ई० तक राज्य करता था। खोनमूह में बहुत से पुराने मन्दिर मिलते हैं। इस स्थान से तीन मील दूर रिवन (प्राचीन खादुवी) गाँव है, जहाँ ज्वालामुखी का मन्दिर है। आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी के दिन यहाँ बड़ा भारी मेला लगता है।

मटन

श्रीनगर से पहलगाँव जाने वाली सड़क पर चालीसवें मील पर मटन का कस्बा है, जहाँ का चश्मा बहुत मशहूर है। हिन्दू इसे सूर्य देवता का तीर्थ मानकर यहाँ आकर भक्ति के फूल चढ़ाते हैं। इस स्थान को भवन भी कहते हैं। यहाँ के चश्मे का पानी बहुत ही साफ है और ठण्डा भी, जिसमें नहाने से बहुत आनन्द आता है। मुगल सम्राट् जहाँगीर के आदेश से १६२० ई० में इसके साथ ही एक चिनार का बाग लगवाया गया। अबुल फजल ने अपनी 'आईने अकबरी' में इस चश्मे का इस प्रकार वर्णन किया है—'पहाड़ की ढलान में एक चश्मा है, जिसे बड़े तालाब में तबदील किया गया है। मुक्कदस चश्मे के अन्दर मछलियों की बहुतायत है, लेकिन उनको हाथ लगाना मना है।"

इनके अतिरिक्त गंगाबल, शारदा आदि तीर्थ-स्थान भी हैं जहाँ सैकड़ों यात्री जाते हैं।

प्राचीन काल से कश्मीर की सामाजिक तथा राजनैतिक क्रान्तियों का केन्द्र, श्रीनगर, निश्चय ही कीर्ति और गौरव का नगर रहा है। यहाँ की प्रत्येक टूटी-फूटी इमारत में अथवा खण्डहर में पुरानी सभ्यता तथा इतिहास का आभास मिलता है। बल खाती झेलम नदी के दोनों किनारों पर स्थित यह नगर काफी बड़ा और जनसंख्या के लिहाज से गुँजान भी है। छटी शताब्दी में जब प्रवरसेन द्वितीय ने इसकी नींव डाली थी, तब की स्थिति से इस समय के विशाल नगर की तुलना करना सम्भव नहीं है। कल्पना तो की जा सकती है प्रवरसेन के प्रवरपुर की—शिलामन्दिरों का एक झुरमुट-सा, कुछ छोटे-छोटे मकान एक दूसरे से अलग-अलग, स्वच्छ और हवादार, फूलों से भरी हुई वाटिकाएँ आदि। इस पुरी की योजना कितनी भावनापूर्ण बनी थी। पर तब भी इसके भाग्य का सूर्य मुस्करा न पाया। अभिमन्यु द्वितीय के शासन काल (९६० ई०) में एक भयंकर आग ने इसका विनाश कर दिया। आग इतनी संहारक थी कि पांद्रेठन के मन्दिर के सिवाय कुछ भी न बच पाया। तब इस नगरी का पुनर्निमाण हुआ था, किन्तु इसकी योजना की ओर किसी का ध्यान न गया जिसका परिणाम यह हुआ कि स्वच्छ वातावरण में होकर भी यह साफ-सुथरा नहीं रखा जा सका है।

कई यात्रियों ने श्रीनगर की तुलना 'वेनिस' से की है। इसके घनेपन की ओर अधिक ध्यान न दिया जाना चाहिए, बल्कि इसके आकर्षणों तथा महत्त्व को समझना

आवश्यक है। साँप के आकार वाली झेलम नदी नगर के बीचोंबीच गुजर रही है, और शहर के दो हिस्सों को मिलाने के लिए आठ पुल बनाए गए हैं। दोनों ओर मकानों के छज्जे जो पानी का चुम्बन-सा करते हुए लगते हैं, खचाखच भरे हुए घाटों, मन्दिरों तथा मस्जिदों का दृश्य बहुत ही आकर्षक है। नौका में बैठ जब श्रीनगर की सैर की जाय तो एक के बाद दूसरा दृश्य बदलता दिखाई पड़ता है।

सैक्रेटेरियट तो विशाल है, परन्तु उसकी निर्माण-कला पर विदेशी प्रभाव साफ दीखता है। आगे जाकर रघुनाथ मन्दिर, हिन्दू शिल्पकला का एक पुराना चिन्ह है। मुसलमान शिल्पकला के नमूनों की कमी ही क्या? पत्थर मस्जिद जो जहाँगीर की मल्लिका नूरजहाँ ने बनवाई थी, शाह हमदान मस्जिद, बडशाह की माँ का मकबरा एक से एक बढ़कर सुन्दर हैं। शहर की आबादी का दसवाँ हिस्सा तो बड़ी डूँगा नौकाओं में ही रहता है। वे लोग तो आगन्तुक से परिचय करने में पीछे नहीं रहते। बच्चे तो ताली बजा-बजा कर आनन्दविभोर हो उठते हैं, पुरुष हर प्रकार की सहायता करने के लिए तैयार, और सुन्दर हाँजी महिलाओं या घाटों पर कपड़े धोती हुई अन्य स्त्रियों की शर्मीली मुस्कान के सिवाय और चाहिए ही क्या?

हारी पर्वत

श्रीनगर की एक विशेषता है कि शिकारा नौका में बैठकर इसकी पूरी सैर की जा सकती है। गर्मियों में जब शिकारा ठंडे पानी में तैरता है तो धुँधलके में शंकराचार्य और हारी पर्वत की पहाड़ियाँ घाटी के वक्षःस्थल को शोभायमान करती हुई, सुन्दर लगती हैं। इन पहाड़ियों की प्रत्येक शिला पर कश्मीर का इतिहास अंकित है। चप्पू के आलाप में अपने को खोकर यदि इतिहास की बीती यादों को फिर से जाग्रत किया जाय तो हारी पर्वत का किला और उसके चारों ओर मोटी और लम्बी फसील कश्मीरी जनता की आहों की याद दिलाती है। यह किला अकबर ने बनवाया था जब वह भारत पर शासन करता था। हालांकि कश्मीर में बहुत लड़ाईयाँ हुईं परन्तु इस किले के आस-पास कोई युद्ध नहीं हुआ। दुर्ग के गिर्द एक फसील भी अकबर के आदेश से बनाई गई थी। तब की बात है जब कश्मीर भयंकर अकाल का सामना कर रहा था, और फल और अनाज से परिपूर्ण इस घाटी में पेड़ों के पत्ते भी खाने को नहीं मिलते थे। अकबर ने आदेश दिया कि फसील बनाई जाय जिस पर चार घुड़सवार इकट्ठे दौड़ सकें, ताकि क्षुधा पीड़ित लोगों को कुछ रोजी मुहैया की जा सके। मजदूरों को मजदूरी के बदले में अनाज मिलता था।

दुर्ग के अन्दर मन्दिर, मस्जिद और गुरुद्वारा भी हैं और यहाँ हर साल मेला लगता है। यहाँ से कश्मीर घाटी का विहंगम दृश्य दीखता है।

शंकराचार्य पहाड़ी

डल झील में शिकारे में बैठकर जा रहे हों तो जमीन से १०० फीट ऊँची पहाड़ी जो शंकराचार्य के नाम से सुविख्यात है, दीखती है। यह कश्मीर के इतिहास के उस सुनहरी काल की याद दिलाती है, जब बौद्ध-धर्म तथा सनातन धर्म का आपस में संघर्ष हो रहा था, और दक्षिण-भारत के शंकराचार्य सनातन धर्म को पुनर्जीवित कर रहे थे। कहते हैं शंकराचार्य स्वामी ने इस पहाड़ी पर कुछ दिन विश्राम किया था, तब से इसका नाम शंकराचार्य पहाड़ी पड़ गया। पर्वत की चोटी पर एक बड़ी चट्टान पर मन्दिर का निर्माण किया गया है। बीस फीट ऊँची अठपहल नींव पर समकोण मन्दिर बनाया गया है, जिसके अन्दर एक सुन्दर शिवलिंग है। पास में ही एक तालाब है जिसमें बर्फ का पानी एकत्रित होकर यात्रियों के पूजा-पाठ के काम आता है।

मन्दिर के निर्माण काल के बारे में काफी मतभेद है। किन्तु यह निश्चत है कि यह काफी पुराना है। मेरा तो विश्वास है कि इसे गोपदित्य ने बनवाया था जो ईसवी सन् से ३६८-३०६ वर्ष पूर्व कश्मीर में राज्य करता था। इसका उल्लेख कल्हण की राजतरंगिनी में भी मिलता है। ललितादित्य (७०१-३७ ई०) ने इसकी मरम्मत करवाई। सिकन्दर बुतशिकन (१३९४-१४१६ ई०) के विनाश-काल में यह खण्डहर बन जाने से बच गया। जैनुलाबदीन 'बडशाह' (१४२०-७० ई०) ने इसकी छत की मरम्मत करवाई जो कि भूकम्प से गिर पड़ी थी। सिक्ख शासन काल में शेख गुलाम-मही‌उद्दीन ने फिर इसकी मरम्मत करवाई। कहा जाता है कि झेलम नदी से लेकर मन्दिर तक पत्थरों की सीढ़ी बनाई गई थी। इन्हीं पत्थरों से मल्लिका नूरजहाँ ने पत्थर-मस्जिद बनवाई थी। इस मन्दिर को बौद्ध भी पूज्य मानते हैं और अपनी भाषा में इसे 'पोस पाह' कहते हैं। मुसलमान शासक, जिन्होंने अपने पाँच सौ वर्ष के लम्बे राज्य में मन्दिरों तथा अन्य पवित्र स्थानों के नाम बदल डाले, इसे तख्ते सुलेमान कहते थे।

मन्दिर के निर्माण के लिए अत्यन्त ही सुन्दर स्थान को चुना गया है। पहाड़ी से सारी कश्मीर घाटी का सम्पूर्ण दृश्य दीखता है। इसके निर्माण में बड़े पत्थरों का प्रयोग किया गया है, जो हिन्दू शिल्पकला के गौरव काल की याद दिलाता है।

अभिनवगुप्त (९९३-१०१५ ई०) के काल में स्वामी शंकराचार्य यहाँ आकर कुछ दिन ठहरे थे। वह तो वेदान्त-प्रचारक थे और शक्ति में उनका विश्वास था। एक दिन जब वे पहाड़ी के दामन में टहल रहे थे, तो दूर कोई ग्वालन दिखाई पड़ी। उन्होंने दूध के लिए पुकारा, परन्तु ग्वालन ने उत्तर दिया कि उन्हें यदि दूध की आवश्यकता हो तो नीचे आकर ले जायें। शंकराचार्य जो घूमते-घूमते थक गए थे, बोले कि उनमें शक्ति नहीं रही है। ग्वालन बोली, "तुम्हें तो शक्ति में श्रद्धा ही नहीं,

वह कहाँ से आएगी ?" ग्वालन का यह कहना शंकराचार्य के मन में तीर-सा लगा, और तब से ही शक्ति के वे उपासक बन गए। उसी समय उन्होंने अपनी एक कविता "सौन्दर्य लहरी" शक्ति की प्रशंसा में लिखी।

यह भी देख लें

शिकारे पर सच्चे साथी की तरह भरोसा किया जा सकता है। केवल दो बाजू चाहिएँ, और चाहिए सैर करने का शौक। बाकी किसी चीज का फिक्र नहीं। झेलम के दोनों घाटों पर निर्मित मकानों पर बड़े-बड़े साईन बोर्ड लगे हैं, जो कश्मीर की कला और दस्तकारी के कोषग्रहों की ओर संकेत करते हैं। कला-दस्तकारी की अमूल्य वस्तुओं की कमी ही क्या, पसन्द करते मनुष्य असमंजस में पड़ जाता है। लेन-देन तो घण्टों चलती ही रहेगी, पर बेचने वाले को जाने भी नहीं देते। वे तो मानव शास्त्र के पण्डित हैं और दूसरों के दिल की बात पल भर में जान लेते हैं। कोई सुन्दर महिला चाँदी के आभूषण पसन्द करे तो बिक्री करने वाला बेचे क्योंकर नहीं। कला का पारखी कोई सैलानी यदि कश्मीरी शाल के टाँके गिनने में व्यस्त हो जाय, तो इतना परिश्रम करने के बाद खाली हाथ क्योंकर लौटे। हाँजियों को तो कोई चिन्ता नहीं। हुक्का तो उनका अपना साथी है ही, और जितनी देर समावार में गर्म नमकीन चाय उबलती रहे, वे ऊब जाने का नाम न लेंगे, और न उनके कान ही पकेंगे।

जिन्हें शौक हो वे स्वयं देख सकते हैं कि शाल-दुशाले, कालीन या अखरोट की लकड़ी की चीजें किस तरह बनाई जाती हैं। अक्सर तो एक ही मकान के अन्दर कश्मीरी दस्तकारी की चीजें बनाई और बेची जाती हैं। कारीगरों को स्वयं काम करते देख इस बात का विश्वास हो जाता है कि इतना खून-पसीना बहाने के पश्चात् उनकी बनाई हुई चीजों के कम दाम होते हैं। गर्मियों में सरकार द्वारा आयोजित प्रदर्शिनी में काफी भीड़भाड़ रहती है, क्योंकि वहाँ एक ही स्थान पर कश्मीर की सभी प्रसिद्ध दस्तकारियों को देखने और खरीदने का मौका मिलता है।

पुलों के बीच

अमीराकदल से तो केवल चार फलाँग की दूरी पर सरकारी अजायबघर है, जहाँ कश्मीर की संस्कृति और वहाँ के इतिहास के चिन्ह सुरक्षित रखे गए हैं। आठवें पुल के बाद एक स्थान छत्ताबल 'वीयर' आता है जहाँ झेलम नदी के पानी की सतह ऊँची करने के लिए एक छोटा-सा बाँध बाँधा गया है। मछली के शिकार के लिए यह उत्तम स्थान है।

कहा जाता है कि हब्बाकदल को सुप्रसिद्ध कवियत्री हब्बाखातून ने बनवाया था, पर यह बात कुछ जंचती नहीं। मेरा मत है कि इसे हबीबखाँ गवर्नर ने बनाया था। पुराने पुल का अब कहीं चिन्ह नजर नहीं आता, क्योंकि उसे तोड़-फोड़

कर उसके स्थान पर मजबूत पुल बनाया गया है, यही हाल फतेहकदल का है जिसे बादशाह फतेहखाँ ने बनवाया था। पुराना पुल तो झेलम में बाढ़ आने से नष्ट हो गया था। उसके स्थान पर नया पुल बनाया गया है। फतेहकदल और जैनाकदल (जिसे बड़शाह ने बनवाया था) के बीच ही कश्मीर का व्यापारिक केन्द्र स्थित है, जो दस्तकारी की चीजों के लिए मशहूर है। जैनाकदल और आलीकदल के बीच महाराजगंज बाजार है जो श्रीनगर की सबसे बड़ी मण्डी है।

मुगलों के बाग भी श्रीनगर के पास ही हैं और शिकारे से पहुँचे जा सकते हैं। नए और सुसज्जित हाऊस बोटों की पंक्तियाँ डलगेट से नगरीबल झील तक दोनों तरफ स्वच्छ तरीके से लगी हुई हैं। चार या छः हाजियों वाली नौका में बैठ तेज गति से कमल-दल को चीरते हुए सोनालंक और रोपलंक द्वीपों को छूते हुए, एक ही दिन में मुगल बागों की सैर की जा सकती है। नौका में बैठे हुए, दूर से मुखदुम साहब की ज़ियारत, जबरवन की ओट में परी महल और चश्मा साहिबी साफ दिखाई देते हैं। मन करता है कि पंख लग जायें ताकि प्रकृति के सौन्दर्य का उपभोग कर सकें।

नेहरू पार्क

नगरीबल झील के बीच एक छोटा कृत्रिम द्वीप बनाया गया है, जिसको पार्क का रूप दिया गया है। पार्क में खेलने-कूदने और तैरने की सुविधा प्राप्त हैं और अच्छे होटल का प्रबन्ध भी है। नेहरू पार्क में शाम के वक्त काफी भीड़ रहती है। बिजली के कुमकुमों तथा उनकी परछाई का दृश्य आँखों में मस्ती लाता है। किसी-किसी दिन तो भाड़ इतनी हो जाती है कि तिल धरने को जगह नहीं मिलती। यहाँ से शंकराचार्य पहाड़ी के दामन में बिजली से चमकाए हुए छोटे-छोटे पार्कों का दृश्य तो देखते ही बनता है। नवयुवक उन्हें 'प्रेम वाटिकाएँ' कह कर पुकारते हैं। यहाँ से पुराने महाराजा का 'हरीमहल' भी साफ दिखाई देता है। जिसे अब होटल में परिवर्तित किया गया है।

बंड पर

अमीराकदल से यदि बंड के रास्ते से होकर जायें तो एक नया ही अनुभव होता है। बंड पर श्रीनगर का सब से ज्यादा सजाया हुआ बाजार लगा है जहाँ हर प्रकार की चीज मिल सकती है। इसी के किनारे कश्मीर सरकार का 'आर्टस् एम्पोरियम' भी है जहाँ कश्मीरी हस्तकला की चीजों का एक वास्तविक कोष है। साथ ही रेडियो कश्मीर के श्रीनगर केन्द्र का दफ्तर भी है। आगे जाकर श्रीनगर क्लब तथा अमरसिंह क्लब हैं जहाँ लोग मनोरंजन के लिए आते हैं।

पहले उल्लेख किया जा चुका है कि श्रीनगर काफी घना बसा हुआ है और छः वर्गमील की जगह में कम से कम ४०,००० मकान मानो ठूँस-ठूँसकर भरे गए हैं। यही

कारण है कि शहर के कुछ इलाके गन्दे हैं। जमीनदोज़ नालियों का कोई प्रबन्ध नहीं, गलियों और छोटे बाजारों में गन्दा पानी सड़ता रहता है। अस्वच्छ वातावरण में रहने के कारण श्रीनगर-निवासी बहुत-सी बीमारियों का शिकार होते हैं। अनुमान लगाया गया है कि श्रीनगर में कम-से-कम १०,००० फेफड़े के रोग के मरीज होंगे। कई मकानों में तो सूर्य की रोशनी का प्रवेश ही नहीं होता। अक्सर मकान दुमंजिले या तिमंजिले हैं। लोग सर्दियों में सबसे नीचे की मंजिल में रहते हैं और गर्मियों में ऊपर की मंजिलों में रहने का रिवाज है।

लेकिन यह तो श्रीनगर के एक हिस्से का चित्र है। अमीराकदल के आस-पास का इलाका और अनेक नई बस्तियाँ, कर्णनगर, रामबाग, बर्जेला, बादामीबाग आदि बहुत ही सुन्दर और स्वच्छ हैं। सैलानियों के लिए निजी बंगले भी मिल सकते हैं। इसके अतिरिक्त हाऊस बोट और होटलों में रहने को काफी जगह मिल जाती है।

यहाँ यह आवश्यक जान पड़ता है कि श्रीनगर के अन्य छोटे पार्कों के बारे में भी कुछ कहा जाय।

मुंशीबाग तो एक चिनार वाटिका है, सोनवारबाग के निकट और अमीराकदल से एक मील की दूरी पर। आल सेन्ट्स चर्च तो इसी के बीच स्थित है। दूसरा बाग चिनार बाग है, जो डलगेट के पास से शुरू होकर नेडूज होटल तक फैला हुआ है। इस बाग में चिनार के सैकड़ों छायादार वृक्ष लगे हैं, जिनके साथ हाऊस बोट बाँध कर रखने और तम्बू लगाने की सुविधाएँ प्राप्त हैं। शेख़बाग में ईसाइयों का कब्रिस्तान तथा एक स्कूल है। प्रताप पार्क तो अमीराकदल के पास से शुरू होकर रीगल सिनेमा तक फैला हुआ है। उस्मान जनाना पार्क सरकारी प्रदर्शनी के पास ही है। यह केवल महिलाओं के मनोरंजन के लिए ही है। अजायबघर के साथ-साथ लालमंडी बाग श्रीनगर के अच्छे बागों में से हैं।
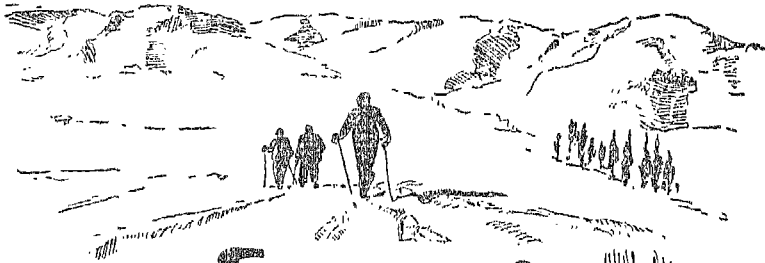
बर्फ का नशा

हेमन्तकाल में जब नदियों का पानी जम कर बर्फ बन गया हो और सारी धरती हिमाच्छादित हो, तो घर बैठकर किया भी क्या जाय ? अक्सर लोग तो गर्म वस्त्र लपेटे हुए आग के पास बैठ जायेंगे । पर जिनकी नसों में जवानी का खून दौड़ता हो और जो प्रकृति के उपहारों को अपने मनोरंजन के साधन बनाने की क्षमता रखते हों, वे तो 'स्कीज़' का जोड़ा हाथ में लिए बर्फ के ऊपर 'तैरने' का आनन्द लेंगे । सहस्रों खिलाड़ी कश्मीर में कई वर्षों से यही तो करते आये हैं ।

स्की-इंग तो शरद् ऋतु के सबसे अधिक जनप्रिय खेलों में से है, क्योंकि इसके लिए जिन चीजों की आवश्यकता है—सर्दी, पाला और बर्फ—वे सब कश्मीर में जनवरी से मार्च तक मिलती हैं । जाड़ों के खेल तो भारतवर्ष जैसे गर्म देश में कभी लोकप्रिय नहीं हो सकते क्योंकि अधिकतर लोग ऐसे हैं जिन्होंने कभी बर्फ को देखा भी नहीं है । किन्तु कश्मीर, जहाँ बर्फ काफी पड़ती है, खिलाड़ियों के लिए इस दृष्टि से भी आकर्षक रहा है ।

कश्मीर में तो 'स्कीज़' (बर्फ पर दौड़ने के लिए लकड़ी का पतले, लम्बे और तिर्छे पटरे) का प्रयोग पहले-पहल १९०४-७ ई० में जनरल कर्क पैट्रिक ने किया जो वहाँ शिकार खेलने आए थे । तत्पश्चात् १९११-१३ में श्री केनिथ मेसन ने कश्मीर में स्की-इंग करने का सर्वे किया । वास्तव में पहले-पहल १९२७ ई० में स्की क्लब ऑफ इण्डिया की पहली मीटिंग आन्द्रे वाल्सर के सभापतित्व में हुई । गुलमर्ग में खिलाड़ियों के रहने और वहाँ तक जाने वाली सड़क से बर्फ हटाने का प्रबन्ध किया गया, तब ही इस लोकप्रिय खेल का उद्घाटन हुआ था ।

स्कैंडिनेविया, जहाँ स्की-इंग का जन्म हुआ, तथा स्वीटजरलैण्ड और कनाडा में बहुत सुविधाएँ मिलती हैं क्योंकि उन देशों के निवासी अक्सर इस खेल को खेलते हैं। कश्मीर तो उन सब देशों की अपेक्षा भूमध्य रेखा के निकट है, इसलिए स्की-इंग करने के लिए काफी ऊँचाई पर जाना पड़ता है, जहाँ बर्फ की तह मोटी हो और उचित ढलानें मिलें। गुलमर्ग तो ९,००० फीट की ऊँचाई पर है, किन्तु स्की-इंग करने वाले और ऊपर जाना पसन्द करते हैं। सबसे उपयुक्त स्थान तो 'लिलीव्हाईट शोल्डर' १२,००० फीट की ऊँचाई पर है जहाँ से गुलमर्ग तक तीन मील लम्बी ढलान मिलती है। स्वीटज़रलैण्ड में तो केवल ३,००० फीट पर ही काफी बर्फ मिलती है और अमेरीका की 'सन वेली' में ६,००० फीट पर स्की-इंग के लिए काफी बर्फ मिलती है।

स्की क्लब ऑफ़ इण्डिया द्वारा आयोजित चैमपियनशिप तो 'ओपन स्ट्रेट रेस' तथा 'ओपन स्लालोम' के जीतने वाले को प्रदान की जाती है। किन्तु एक ही खिलाड़ी जब दोनों चैमपियनशिप नहीं जीत पाए तो वही विजयी होता है जिसने सब से अधिक पॉइन्ट लिए हों। 'लिलीव्हाईट कप' 'इल्वर्स स्लालोम कप' काश्मीर कप' 'हैडो कप' आदि ट्राफ़ीज़ अन्य दौड़ें जीतने वालों को ही मिलती हैं। क्रिसमस् मीटिंग पर स्की-इंग सिखाने का प्रबन्ध किया जाता है, और नए खिलाड़ियों में से आधे-मील की दौड़ में प्रथम आने वाले को 'वालसर कप' इनाम दिया जाता है।

'ओपन स्ट्रेट रेस' से तो खिलाड़ी को काफी तसल्ली होती है। लिलीव्हाईट शोल्डर से गुलमर्ग तक तो खिलाड़ी बेरोक तेज गति से जा सकता है क्योंकि रास्ता बिलकुल सीधा है। थोड़े ही साल हुए जब एक चैक खिलाड़ी हुरुस्का ने तीन मील की यह स्की-दौड़ चार मिनट और चालीस सैकिण्ड में दौड़ी। लिलीव्हाईट शोल्डर तो दुनिया में सबसे ऊँची स्की-ढलान है। 'स्लालोम दौड़' तो बहुत ही दिलचस्प है। गुलमर्ग में लम्बी दौड़ दौड़ना सम्भव नहीं है। इसलिए कम दूरी की दौड़ करने का ही इन्तजाम किया गया है। लाल और हरी झंडियों से खिलाड़ियों को चेतावनी दी जाती है कि वह अपने को काबू में रखें ताकि मोड़ काटते [illegible] तोड़ बैठें, खास तौर से मुड़ते समय स्कीज को समानान्तर रूप से रखना कोई आसान काम नहीं।

नवीन युद्ध-कौशल के अनुसार, प्रत्येक देश में सैनिकों को बर्फ में लड़ाई लड़ने के नियम सिखाए जाते हैं। कहा जाता है कि नेपोलियन की फौज में एक स्की रेजीमेंट भी थी। और रूसी स्की-सेना ने तो द्वितीय महायुद्ध में प्रशंसनीय काम किया। रायल एयर फोर्स द्वारा १९४४-४५ ई० में आयोजित गुलमर्ग में एक स्की कैम्प बहुत ही सफल रहा। बर्फीले इलाके में चलने-फिरने का अच्छा साधन सैनिकों के लिए स्की ही है। किन्तु सैनिक में स्कीज़ के अलावा तेईस सेर भार उठाने की शक्ति भी होनी चाहिए। रायल एयर फोर्स कैम्प में यह देखने में आया है कि सैनिक

बर्फ पर आसानी से ५० मील प्रति घण्टा की गति से जा सकता है। रात के समय स्की-इंग करने का अभ्यास भी वहाँ किया गया। भारतीय सेना में कई स्की दस्ते हैं जिन्हें लड़ाई लड़ने के नवीनतम तरीकों से परिचित कराया गया है।

भारत से अंग्रेजों के चले जाने के पश्चात् तो स्की क्लब ऑफ इण्डिया बन्द ही हो गया था, क्योंकि इसके सदस्य अधिकतर अंग्रेजी सेना के अफ़सर ही थे। परन्तु कुछ सदस्य सेना के बाहर के भी थे, जिन के हाथों इसका पुनर्जन्म हुआ। १९४५ तक इस क्लब की कोई सभा न हो सकी क्योंकि कश्मीर पर पाकिस्तान का आक्रमण हुआ था। सबसे पहली बैठक तो अप्रैल १९५० में हुई जिसमें भारतीय सेना के बहुत से अफसर शामिल हुए। तब से भारतवर्ष के खिलाड़ियों में इस ओर रुचि बढ़ी, जिस कारण क्लब के सदस्यों में काफी वृद्धि हुई। फारेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट, देहरादून से यह समाचार मिला है कि स्कीज अब भारत में भी शीशम की लकड़ी से बनाई जा सकती है। अभी तो विदेश से ही आती हैं।

गुलमर्ग मुख्यतया स्की-इंग तथा अन्य खेलों का केन्द्र रहा है। यहाँ की एक विशेषता है कि खिलाड़ी अपनी तृषित आँखों की प्यास पहाड़ी दृश्यों की मनोरमता का अवलोकन तथा नांगापर्वत और हरमुख के दर्शन करने से बुझा सकते हैं। रात को जब राकेश बर्फीली जमीन पर चाँदी बिखेर देता है और तारे देदीप्यमान हो उठते हैं तो लगता है कि परियों के देश में आ गए हैं।

खिलाड़ियों की शिकायत है कि गुलमर्ग में सब सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। उनका कहना है कि कश्मीर सरकार को चाहिए कि 'फ्युनिकूलर ट्राली सर्विस' चालू करे और लकड़ी, कोयला आदि के बेचने का भी प्रबन्ध करे। उनका विचार है कि परिपंचाल की सारी पर्वतमाला में तोस मैदान और अन्य स्थान स्की-इंग के योग्य बनाए जा सकते हैं, ताकि सैलानी अपने मनोरंजन के लिए शिकार भी कर सकें।

जरूरत इस बात की है कि यातायात के साधन मुहैया किये जायँ, बर्फ को हटाकर रास्ता खुला रखा जाय और उपयुक्त स्थानों पर हट बनाए जायँ। जवाहर टनल के खुल जाने से अधिकाधिक खिलाड़ी जाड़ों में कश्मीर जाना पसन्द करेंगे, इस लिए उचित ही है कि उनके ठहरने का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया जाय। एक सुविधा तो पहले से ही उपलब्ध है, और वह श्रीनगर के हवाई अड्डे का पूरे वर्ष चालू रहना। अमृतसर से श्रीनगर एक घण्टा और दिल्ली से तीन घण्टे का रास्ता है। जिन खिलाड़ियों के लिए अधिक दिन छुट्टी लेना सम्भव नहीं, वे भी हवाई जहाज द्वारा कश्मीर आ सकते हैं।

स्की-इंग के अलावा 'टबोगनिंग' और 'स्केटिंग' भी की जा सकती है। स्केटिंग के लिए श्रीनगर के क्लबों में भी प्रबन्ध किया जाता है। 'टबोगनिंग' तो गर्मियों में

भी ऊँचे पहाड़ों की बर्फ़ीली ढलानों पर हो सकती है। स्की-इंग आदि के शौकीन खिलाड़ियों को चाहिए कि जाने से पूर्व 'डाईरेक्टर विज़िटर्स ब्यूरो', श्रीनगर से जानकारी प्राप्त करें। प्रायः देखने में आया है कि खिलाड़ी ग़लत समय पर जाते हैं और निराश होकर लौटते हैं।
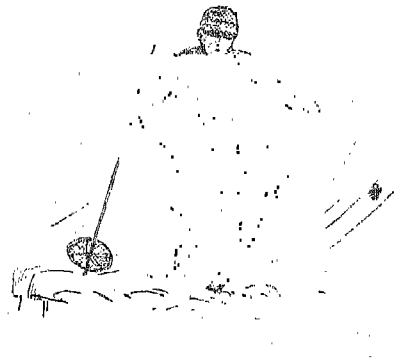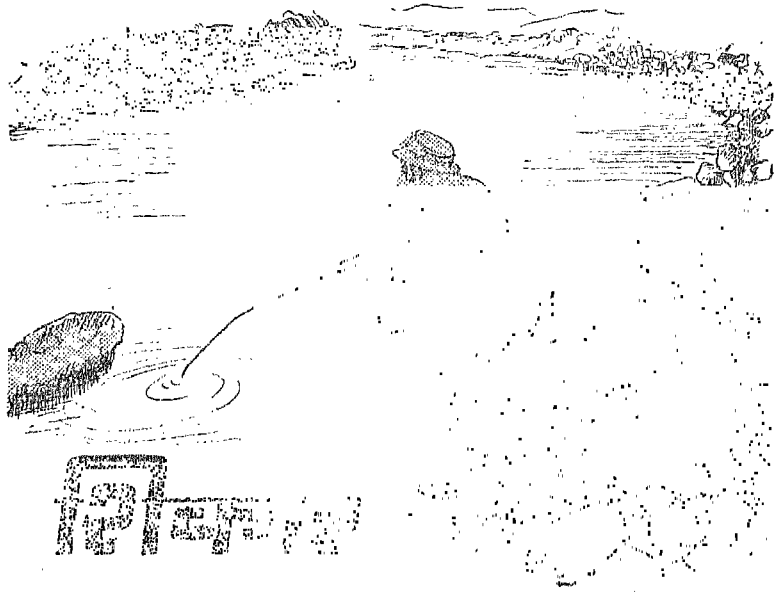
अनुभवी शिकारियों का मत है कि ट्राऊट मछली के शिकार के लिए कश्मीर की ब्राऊन ट्राऊट से भरी नदियाँ सर्वोत्तम हैं। पहाड़ी नदियाँ तथा झीलें सारा साल मछलियों से भरी पड़ी रहती हैं। विदेशी मछलियों की जो किस्में कश्मीर की जलवायु में फली-फूली हैं, वे यहाँ आकर बहुत बड़ी हो गई हैं।

मछली के शिकार के साथ शिकारी तम्बू-जीवन का स्वाद, पहाड़ों पर चढ़ने और वनों में घूमने का आनन्द ले सकता है। पहलगाँव की लिद्दर नदी या अन्य ट्राऊट से भरे हुए जल-प्रवाह के पास हाथ में काँटा लिए बैठ जायें तो यह सम्भव नहीं कि ध्यान मछली पकड़ने की ओर ही रहे—मन पहाड़ों और वनों का सौन्दर्य निरखने में लग जाता है। संसार में शायद ही दूसरा कोई स्थान होगा जहाँ ट्राऊट मछली का शिकार ऐसे सुरम्य वातावरण में मिलता हो।

जिन्हें बड़ी मछली का शौक है, उनके लिए माहसीर जैसी कोई मछली नहीं। यह झेलम नदी और वुलर झील, जो भारत में मीठे पानी की सबसे बड़ी झाल है, में उपलब्ध हैं। भारी काँटे की इन मछलियों के समूह जून में नदी के ऊपरी हिस्से की ओर प्रस्थान करते हैं और सितम्बर में वापिस लौटते हैं, क्योंकि यह मौसम ठंडे

जल में ही फूलती है। इसके इलावा अन्य कई किस्में हैं जिनमें 'छिरयू', 'चूश' और बर्फ़ानी ट्राऊट प्रसिद्ध हैं।

ट्राऊट मछली पहले-पहल यूरोप से श्री डब्ल्यू मिचल ने १९०२ ई० में लाए और उन्हीं ने अछा बल और दाछीगाम में मत्स्य-केन्द्र बनाए। करीब बीस वर्ष के पश्चात् ट्राऊट मछली के शिकार के लिए कश्मीर प्रसिद्ध हुआ। अपने हाल ही के ट्राऊट मछली के शिकार के अनुभव से कह सकता हूँ कि शिकार के लिए प्रत्येक सुविधा प्राप्त हो सकती है। श्रीनगर में शिकार की कई एजंसियाँ हैं जो पूरा प्रबन्ध कर देती हैं। एक ऐसी ही दुकान का परिचय प्राप्त होने पर सब चीजों का फैसला हो गया। अगले दिन हमारा कारवाँ चला, हम जंगलों के बीच से होते हुए पैदल ही चले और अपना सारा सामान घोड़ों पर लादा। दोपहर से पहले सिन्धु नदी की एक शाखा के देवदारु के पेड़ों के झुरमुट में से दर्शन हुए। नदी का प्रवाह तेज़ था, जिस कारण उसका पानी मथे हुए दूध जैसा लग रहा था। पड़ाव डाला, उदर-पूर्ति की और काँटे लेकर नदी में लपके, लेकिन किस्मत ने साथ न दिया। एक मछली भी न पकड़ पाए। थोड़ी देर विश्राम करने के पश्चात् और आगे जाने का निश्चय किया। एक घण्टे का रास्ता काट कर हमने छोटे से मैदान में तम्बू लगा दिए। यहाँ नदी का प्रवाह और ज्यादा तीव्र हो गया। हमारी किस्मत खुली, शाम के खाने के साथ तीन मछलियों का आहार किया।

अगले दिन पूरे जोर की तैयारी हुई। सारा दिन शिकार के पीछे लगे रहे, और हम में से हर एक ने करीब दस मछलियाँ पकड़ीं। सवेरे और शाम मछलियाँ पकड़ना और दिन भर पहाड़ों की सैर करना, कुछ दिन के लिए जीवन का यही नियम बन गया। शाम को ठंडी हवा चीड़ के पेड़ों की टहनियों में से सरसरा कर गुजरती और पहाड़ी चिड़ियाँ वक्र करती हुई उड़ती चली जातीं। भाँति-भाँति के जीव जन्तुओं की पुकार ऐसी लगती जैसे सभी प्राणी शान्ति के लिए आराधना कर रहे हों। दिन भर की थकान के पश्चात् अलाव के पास बैठने में कितना आनन्द आता है। आग की लपटें मुड़ती, बल खाती हुई, उनकी कड़कड़ाहट चारों दिशाओं को झकझोर जाती। लकड़ी के जलने की आवाज़ के साथ सुवर्ण-वर्षा-सी चिनगारियों की लपटें ऊपर आकाश में चढ़कर अदृश्य हो जाती थीं।

पास ही दूसरा अलाव जल रहा था, जिसकी लाली नौकरों के मुँह को दीप्तिमान कर रही थी। रजनी के शान्त वातावरण में लोमड़ी या गीदड़ का शब्द और आग के जलने की आवाज के सिवा कुछ सुनाई न पड़ता था।

श्रीनगर से प्रत्येक दिशा में ५,५०० फीट से ९,००० फीट की ऊँचाई तक ट्राऊट मछली की नदियाँ मिलती हैं, परन्तु जितना ही छोटा जल-प्रवाह उतनी ही छोटी उसमें मछली भी मिलेगी। बड़ी नदियों में तीन सेर से चार सेर तक की ट्राऊट मिलती है, परन्तु छोटे नालों में एक-आध सेर से अधिक वज़न की मछली मिलना

सम्भव नहीं। वास्तव में शिकार का कायदा यह है कि आधा सेर कम वजन की मछली वापिस नदी में फेंकी जाती है। कश्मीर में ट्राऊट का रक्षित शिकार है और नदी नाले 'बीट्स' में बाँटे गए हैं, जिनकी संख्या त्रिगी में आठ और सिन्ध नदी और अन्य नालों में बीस के करीब है। यह जानकर आश्चर्य होगा कि गंगाबल, विष्णुसर तथा कृष्णसर झीलों में जो १३,००० फीट की ऊँचाई पर स्थित हैं, ट्राऊट मछलियों की प्रचुरता है। कृष्णसर में हाल ही में एक शिकारी ने सात सेर की ट्राऊट पकड़ी। इतनी बड़ी ट्राऊट मछली संसार में अन्य कहीं नहीं पकड़ी गई है।

'बीट' का लाईसेन्स लेने से पहले आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जाय कि अमुक नदी में मछली मिलेगी भी। ऐसी ही नदी का चुनाव करना चाहिए जिसमें ट्राऊट की बहुतायत हो, जो प्राय: अप्रैल और सितम्बर के बीच ही होती है। श्रीनगर में स्थित कश्मीर सरकार के 'गेम वार्डन' से पर्याप्त जानकारी प्राप्त की जा सकती है, और उसी से लाईसेन्स मिलता है।

बड़े पशुओं के शिकार के लिए कई जंगल सुरक्षित रखे गए हैं। जंगली पशु सारी रियासत में सुरक्षित स्थानों में फैले हुए हैं, खास तौर से लद्दाख आदि सीमान्त इलाकों में। काला रीछ, सुअर, बारहसिंघा, तेंदुआ और सेरो बकरी आदि कश्मीर घाटी में बहुत मिलते हैं।

काल रीछ आम तौर से वनों की ऊपरी सीमा के अन्दर अन्दर ही मिलता है। चूँकि यह शीतस्वाप नहीं करता, इसलिए इसका जाड़े में भी शिकार किया जा सकता है। गर्मियों में अक्सर यह मकई के खेतों को नष्ट-भ्रष्ट करने आता है और स्वयं भी नष्ट हो जाता है। कश्मीर सरकार ने गूजर लोगों को बन्दूकें रखने की अनुज्ञा दी है, ताकि वह तेंदुए और रीछ के आक्रमण से अपने खेतों तथा पालतू पशुओं की रक्षा कर सकें। रीछ कजवग, शामेशिबरी, गुरेज, किश्तवार और बड़वन में पाया जाता है। तेंदुए का शिकार तब ही हो सकता है जब उसे फँसाने के लिए बकरी आदि का प्रलोभन दिया जाय। 'सिरो' तो शामेशिबरी, किश्तवार और बड़वन में पाया जाता है, लेकिन इसके शिकार के लिए काफी परिश्रम करना पड़ता है, क्योंकि यह बहुत ही कम घूमता-फिरता है।

कश्मीर का बारासिंघा सुन्दर और बलिष्ट होता है, और इसका शिकार आसानी से किया जा सकता है। यह अधिकतर ह्रिननाला, सिन्धु और लिद्दर घाटी, किश्तवार और जम्मू प्रान्त में पाया जाता है। कस्तूरी मृग १०,००० फीट की ऊँचाई पर भोजपत्र के वनों में अक्सर मिलता है। इसका शिकार करने के लिए अस्तोर, काजीनाग, गुरेज मचील तथा जम्मू प्रान्त में कई स्थान सुरक्षित हैं। कश्मीर घाटी में इसका शिकार वर्जित है।

लद्दाख के सीमान्त इलाके में कई प्रकार के पशुओं का शिकार हो सकता है। खास तौर से 'ओविस अमोन' बकरी, मारखोर, लाल रीछ और तेंदुए के लिए प्रसिद्ध है।

पक्षियों के शिकार के लिए कश्मीर घाटी की किसी झील में जा सकते हैं। चाहा पक्षी 'स्नाईप' आंचार झील में काफ़ी मिलता है। मुर्गाबी का शिकार आसान है, क्योंकि प्रत्येक झील में यह पक्षी मिलता है। जाड़ों में मुर्गाबी तथा बत्तख के समूह वुलर झील में मिलते हैं। 'टील' तथा 'पिनटेल' पतझड़ के पश्चात् मिलते हैं, लेकिन बटेर, चकोर और तीतर आदि का शिकार गर्मी के मौसम में किया जाता है।

शिकारियों को चाहिए कि अपनी बन्दूकें जो भारत सरकार द्वारा लाईसेन्सड हों तथा कारतूस अपने साथ लेते आएँ। शिकारी या गाईड का प्रबन्ध कश्मीर सरकार द्वारा हो सकता है। चेचक और टाईफस पहाड़ी इलाकों में गर्मियों में फैलते हैं इसलिए शिकारी को चाहिए कि इनके टीके लगवाएँ। छूत की अन्य बीमारियाँ लग जाने का डर इसलिए रहता है क्योंकि शिकार करने के लिए सभ्यता से दूर भागना पड़ता है, जहाँ दूध, दही आदि खाने-पीने की वस्तुओं द्वारा ये बीमारियाँ लगने का खतरा रहता है, इसलिए पानी, दूध आदि को उबालकर सेवन करना चाहिए।

१९
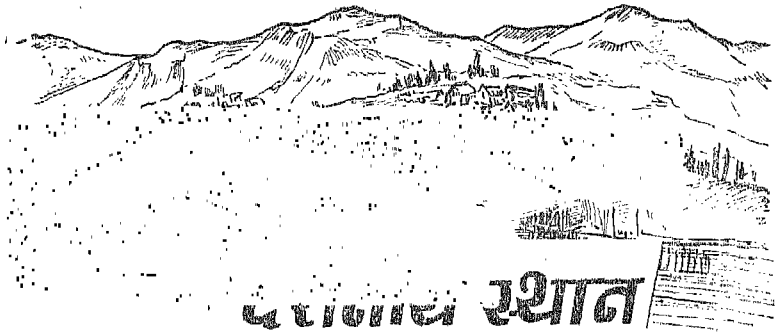
भारतवर्ष के दर्शनीय पहाड़ी स्थानों में सुन्दरतम्, गुलमर्ग स्काटलैंड से काप मिलता-जुलता है। गर्मियों में तो यह पर्वतीय घाटी सैलानियों से खचाखच भ रहती है। फूलों से भरी उपत्यका ८,७०० फीट की ऊँचाई पर स्थित चीड़ औ देवदारु के सघन जंगल से घिरी हुई है। यह तो ठीक ही है कि स्वतन्त्रता से पू भारतीय सैलानियों के लिए यहाँ जगह मिलना असम्भव था। परन्तु अब परिस्थि बदल गई है, और पर्यटन करने वालों की बढ़ती संख्या इस बात की साक्षी है f उन्हें यह स्थान बहुत ही भाया है। गुलमर्ग के 'गोल्फ लिंक' संसार भर में प्रसि हैं। साथ ही साथ टहलने और खुले मैदान या मनोरम बन में घुड़सवारी के शौकी के लिए तो इससे उत्तम स्थान और कोई भी नहीं। सात मील लम्बी ठंडी सड़ गुलमर्ग के चारों ओर घेरा-सा डाले हुए है। वहाँ से जो दृश्य दीखता है, उसका वर्ण शब्दों में करना असम्भव है। वहाँ से तो सारी कश्मीर घाटी का नजारा दीखता है— ऊँचे हिमाच्छादित शैलों के दृश्यों की कमी ही क्या!

सैलानियों के मनोरंजन के लिए तो खिलनमर्ग, अफरवट की जमी हुई भा बाबाऋषि, कान्तरनाग और तोस मैदान आदि स्थान भी समीप ही हैं। भोगम होटल तथा आराम देह रेस्ट हाऊस एक दूसरे के आस-पास ही हैं और क्लब र इस रम्य स्थान के बिल्कुल बीच में स्थित है। गोल्फ के शौकीनों के लिए गुलम स्वर्ग-समान है। दो गोल्फ कोर्सों पर, जो संसार में सबसे सुन्दर कोर्स माने जाते ह सारा साल मैच चलते रहते हैं। अफरवट और खिलनमर्ग के समीप बर्फ से ढकी हु ढलाने जाड़ों में खेले जाने वाले खेलों, स्की-इंग, स्केटिंग तथा टबोगनिंग आदि लिए बहुत ही उचित है।

११. शाल बुनकर

१२. डल झील पर सूर्यास्त

ठंडी सड़क—सात मील लम्बी देवदारु के वनों को चीरती हुई इस सड़क से २६,६६६ फीट ऊँचे नांगापर्वत तथा १६,८७२ फीट ऊँचे हरमुख पर्वत की दृश्यमाला देखकर भुलाई नहीं जा सकती है। फ़ीरोजपुर नाला तथा टेनमर्ग का नज़ारा तो देखते ही बनता है।

खिलनमर्ग—गुलमर्ग से खिलनमर्ग तक केवल ४० मिनट का रास्ता है। ऊँचे पहाड़ों के अलावा, वहाँ से दूर कनकतार की तरह दमकता वुलर झील का पानी, आंचार तथा डल सरोवर, हारी पर्वत तथा शंकराचार्य की पहाड़ियों का नजारा दीखता है। स्की क्लब ऑफ इंडिया की वहाँ पर एक बड़ी अधोभुवन हट भी है।

अफरवट झील तो इसी नाम के पहाड़ के दामन में छिपी हुई है। झील का आकार तिकोण है और छोटे-छोटे हिम खण्ड इसके ठंडे पानी में सारा साल तैरते रहते हैं। कहा जाता है कि आस-पास अन्य छोटे जलाशयों का इसके साथ सम्बन्ध है। गुलमर्ग से वहाँ पैदल चलकर या घोड़े पर चढ़कर पहुँचा जा सकता है।

निगलनाला तथा फ़ीरोजपुर नाला—निगल गुलमर्ग से पाँच मील दूर है। इसका पानी अफरवट और आला पत्थर झीलों से आता है और पहाड़ों के बीच तेज़ी से बहता है। फ़ीरोजपुर जाने वाली सड़क गीगलदारा के पास से अलग होती है और एकदम नीचे की ओर चली जाती है। ट्राऊट मछली के शिकार के लिए यह नाला प्रसिद्ध है। दोनों नदियों के किनारे कई ऐसे स्थान हैं जहाँ 'पिकनिक' हो सकता है। झरनों का कलनाद सुनके आदमी मस्त हो जाता है।

बाबाऋषि केवल तीन मील दूर है। वहाँ जाने वाली सड़क ठंडी सड़क से ही शुरू होती है। रास्ते में कई ऐसे स्थान हैं जहाँ पिकनिक हो सकती है। बाबाऋषि की कब्र के गिर्द एक सुन्दर चबूतरा देवदारु लकड़ी का बना है, जिस पर सुन्दर खुदाई का काम किया गया है।

तोसमैदान का नाम कश्मीर के सुन्दर मार्गों में आता है। वहाँ जाने के तीन रास्ते हैं जो सभी फीरोजपुर नदी के ऊपर से होकर जाते हैं। रास्ता दुर्गम है, पर घोड़े आसानी से चढ़ सकते हैं। बीच में दनवास नामक पड़ाव पड़ता है, जो बहुत ही सुन्दर जगह है।

यात्रियों को चाहिए कि कम से कम एक सप्ताह के लिए गुलमर्ग अवश्य जायें ताकि वे सब देखने योग्य स्थानों की सैर कर वहाँ जाने का पूरा लाभ उठा सकें। गुलमर्ग तो अपने सौन्दर्य जाल में सब को बन्दी बना लेती है।

पहलगाँव

नयनाभिराम लिद्दर घाटी के बीच ७,००० फीट की ऊँचाई पर स्थित पहलगाँव संसार भर में प्रसिद्ध स्थान है। जिन्हें कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य अथवा वहाँ

के ग्राम्य-जीवन का अवलोकन करना हो, वे पहलगाँव जाये बगैर अपनी चाह पूरी नहीं कर सकते हैं। सुरम्य दृश्य, गगनचुम्बी हिमाच्छादित पर्वत-शिखर, हर तरफ बिखरे हुए चश्मे, पर्वतीय नदियाँ तथा तम्बू लगाने के लिए उचित स्थान प्रत्येक व्यक्ति के मनोरंजन के लिए काफी हैं। सैलानी अपने मन बहलाने के लिए पहाड़ों पर चढ़ना, वनों में फिरना, मछली पकड़ना, घुड़सवारी करना या एकान्त में विश्राम करना पसन्द करते हैं। हाल ही में गोल्फ के शौकीनों के लिए एक ९ छेद वाला गोल्फ कोर्स भी बनाया गया है।

श्रीनगर और पहलगाँव के बीच प्रतिदिन बस सर्विस चलती है। साठ मील लम्बी यह सड़क फलों से लदे हुए पेड़ों के बगीचों, सुन्दर नदियों तथा चावल के खेतों, और अखरोट और चिनार के विशाल वृक्षों के झुरमुटों के बीच से होकर जाती है। मटन और पहलगाँव के बीच कलनाद करती लिद्दर नदी में ट्राउट मछली का शिकार करने की सुविधा प्राप्त है। मछली पकड़ने के लिए इस नदी को तीन-तीन मील लम्बे सात भागों में बाँटा गया है।

कश्मीर की पर्वतमालाओं के सुन्दर नजारों को समीप से देखने के लिए पहलगाँव सबसे अच्छा स्थान है। सोनासर, शेषनाग, अमरनाथ गुफा, तारसर, लिद्दरवट तथा कोलाहाई ग्लेशियर भी उन स्थानों में से है जहाँ पहलगाँव से जा सकते हैं। जुलाई-अगस्त में तो सहस्रों यात्री पहलगाँव में अमरनाथ की यात्रा करने के लिए एकत्रित हो जाते हैं। पहलगाँव के निकट अन्य देखने योग्य स्थानों का विवरण नीचे दिया गया है।

चन्दनवारी—पहलगाँव से ८ मील की दूरी पर ९,५०० फीट की ऊँचाई पर स्थित है। अमरनाथ जाने वाले यात्रियों के लिए यही पहला पड़ाव पड़ता है। पहलगाँव से कुछ घण्टों का रास्ता है। पास ही बर्फ का पुल देखने योग्य है।

शेषनाग झील तथा ग्लेशियर—पहलगाँव से १५ मील दूर यह स्थान ११,७३० फीट की ऊँचाई पर है। रास्ता दो दिन में कटता है, वैसे तो एक दिन में भी जा सकते हैं। झील काफी बड़ी है, और पानी उसका सब्ज रंग का है। जून महीने तक यह बर्फ से ढकी रहती है। इसका पानी इतना ठंडा है कि नहाते समय एक से ज्यादा डुबकी नहीं ली जा सकती। कुछ अजीब आकृति वाले पहाड़ झील की दक्षिण दिशा से ऊपर उठते आकाश से बातें करते हैं। इनके पीछे कोहेनूर के पर्वत का सिलसिला छिपा हुआ है।

कोलाहाई ग्लेशियर—पहलगाँव से दो दिन का रास्ता है। यह ग्लेशियर १४,००० फीट की ऊँचाई पर है। हालांकि रास्ता कुछ कठिन-सा है, फिर भी सैकड़ों सैलानी पहाड़ों को लाँघकर पहुँच ही जाते हैं। रहने के लिए हट्स् का प्रबन्ध भी किया गया है।

तारसर झील—पहलगाँव से २१ मील, १३,००० फीट की ऊँचाई पर है। झील करीब एक मील लम्बी और आधा मील चौड़ी है। तम्बू लगाने के लिए उपयुक्त स्थान वहाँ से थोड़ी ही दूरी पर है। सैलानी यहाँ कई दिन विश्राम कर सकते हैं। रास्ते में कई मार्गों में से गुजरना पड़ता है, जहाँ अनेक प्रकार के जंगली पशुओं का शिकार मिलता है।

आडू—पहलगाँव से सात मील की दूरी पर है और करीब १०,००० फीट की ऊँचाई पर। लिद्दर घाटी का नजारा वहाँ से सुहावना दीखता है। 'गुरखोम्ब' यहाँ एक देखने योग्य स्थान है, क्योंकि वहाँ लिद्दर नदी जमीन के अन्दर अदृश्य हो जाती है और साठ फीट की दूरी पर फिर प्रकट होती है।

लिद्दरवट—आडू से सात मील की दूरी पर है। वहाँ पर लिद्दर घाटी पहाड़ों का चुम्बन करती है इसलिए घने जंगल पास ही हैं। ऊँचाई तो करीब आडू की सी है। तम्बू-जीवन व्यतीत करने के लिए क्या इस जैसा भी कोई स्थान होगा?

बुमजू—पहलगाँव से नीचे, भवन गाँव से यह स्थान थोड़ी ही दूर है। बुमजू की गुफाएँ जिनमें एक २०० फीट से ज्यादा लम्बी होगी, सुप्रसिद्ध है। इनमें से एक गुफा के भीतर चट्टान में से काटा हुआ मन्दिर कश्मीर की पुरानी संगतराशी की कला का एक नमूना है।

भवन—मार्तंड से दो मील, श्रीनगर—पहलगाँव सड़क पर स्थित है और खुले मैदान में जीवन व्यतीत करने के लिए सुन्दर जगह है। चिनार के विशाल पेड़ों के झुरमुट के बीच दो स्वच्छ जलस्रोत हैं, जिनका पानी स्वादिष्ट है। पास ही लिद्दर नदी में मछली के शिकार के लिए भी प्रबन्ध है।

सोनामर्ग

गुलमर्ग और पहलगाँव के अतिरिक्त सैलानियों के लिए सोनामर्ग देखने योग्य स्थान है। लद्दाख जाने वाली सड़क का यह पहला पड़ाव है, और सुन्दरता में किसी अन्य स्थान से कम नहीं है। लद्दाख से आने वाले यात्रियों को पहले-पहल कश्मीर घाटी के दर्शन यहीं होते हैं, जिसके कारण इस स्थान पर कश्मीरियों, लद्दाखियों, चीनी और तिब्बतियों का आपस में मेल-मिलाप होता है। यहाँ की पहाड़ियों का नजारा दिल को मोह लेता है। रास्ता तो सारा सिन्धु घाटी को चीरता हुआ जाता है। रहने के लिए रेस्ट हाऊस तथा हट्स का प्रबन्ध है। चूँकि यहाँ सर्दियों में काफी बर्फ पड़ती है इसलिए मई तक रास्ता बन्द ही रहता है। यहाँ से दो मील दूर 'नीलगाड' नामक एक गाँव है, जहाँ चश्मा है। कहा जाता है कि इसके पानी में पेट के रोग दूर करने की शक्ति है।

कुकरनाग

अनन्तनाग से १४ मील की दूरी पर यह स्थान पानी के चश्मे की वजह से प्रसिद्ध है। लोगों का विश्वास है कि इसके पानी से पेट तथा फेफड़े के सब रोग दूर हो जाते हैं। दो-तीन सप्ताह यहाँ विश्राम करने से अक्सर रोगी ठीक हो जाते हैं। कहते हैं कि इस चश्मे का पानी पाचन-शक्ति इतनी बढ़ाता है कि भूख कभी मिटती ही नहीं है।

कौंसरनाग

श्रीनगर से शुपैयान बस द्वारा ४५ मील का रास्ता है, शुपैयान से अहरबल जलप्रपात छः मील की दूरी पर है। अहरबल से लगभग १५ मील की पैदल यात्रा या घोड़े की सवारी के बाद १२,००० फीट की ऊँचाई पर कौंसरनाग की झील आती है, जो काफी विस्तृत है। झील पहाड़ों से घिरी हुई है और इसका नीले रंग का पानी बहुत ठंडा है। जुलाई के महीने तक यह बर्फ से ढकी रहती है। फिर गर्मी के जोर से बर्फ पिघलने लगती है और पानी साफ दिखाई देता है। कौंसरनाग से कुछ दूरी पर रहने के लिए हटों का प्रबन्ध किया गया है। ऐसी लम्बी पर्वतीय यात्रा करने के लिए यात्रियों को खाने-पीने और पहनने की चीजों से अच्छी तरह लेस होकर ही निकलना चाहिए।
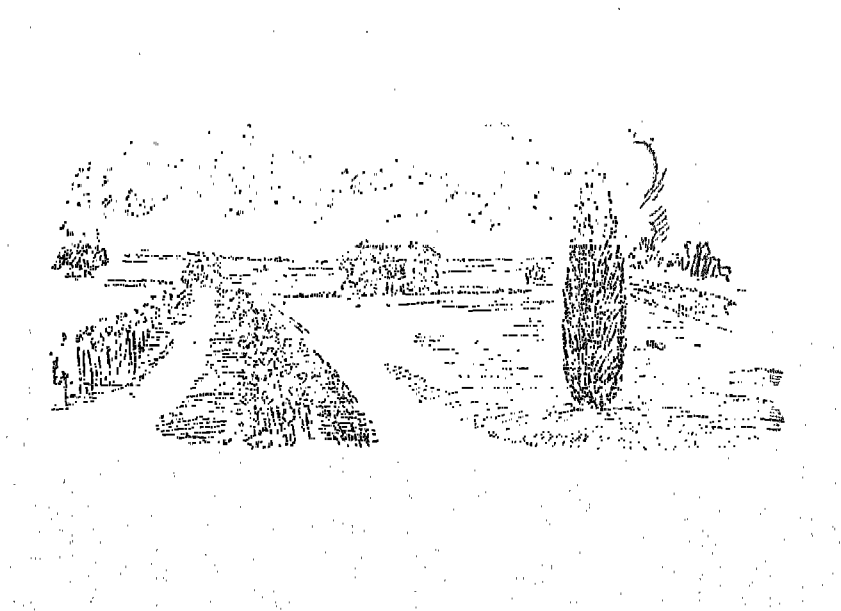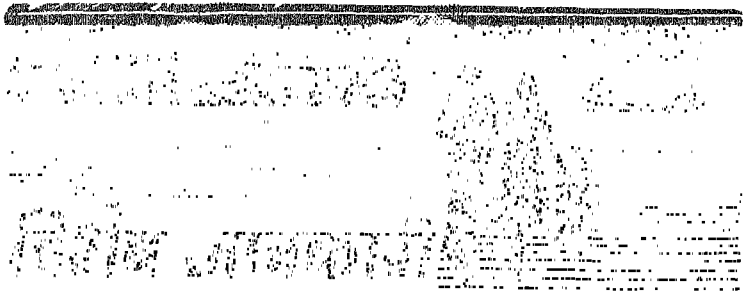
हाऊस बोट

कश्मीर पहुँचकर सैलानी को भ्रम होता है कि वह नाविकों के प्रदेश में आ गया है। समूची घाटी में नदियों और नहरों का जाल बिछा है। खन्नाबल से लेकर श्रीनगर तक मोटर का रास्ता झेलम नदी के किनारे से जाता है, इसलिए बाहर से आए हुए लोगों का सर्वप्रथम नौकाओं और 'हाँजियों' से ही परिचय होता है। कश्मीर की नाव-निर्माण-कला बहुत पुरानी है। नाव ही अवसर गाँव से गाँव में जाने का साधन बनती है। नागरिकों की जरूरतों को भी मल्लाह ही पूरा करते हैं। उनके घरों में जो लकड़ी जलाने के काम आती है वह दूर-दूर से 'खच्चू' नौका द्वारा ही लाई जाती है, सब्जी, दूध, फल आदि 'डेम्ब' नाव से आते हैं, और झीलों-नदियों में सैर करने के लिए शिकारा नौका ही सर्वोत्तम साधन है। कश्मीरियों को पानी से इतना लगाव है कि वे किसी ऐसे स्थान में रहना पसन्द नहीं करेंगे जहाँ नदी या चश्मा न हो। वे ऐसे स्थान को 'गैर घाट' (घाट से दूर) कहकर पुकारते हैं।

नौका के निर्माण की कला के विषय में विस्तार से यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन 'हाऊस बोट' के बारे में कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि यह कश्मीर की अपनी निराली चीज है। हाऊस बोट का आविष्कार एक कश्मीरी पण्डित श्री नारायणदास द्वारा हुआ। उसका एक प्रतिष्ठित घराने में जन्म हुआ, पढ़-लिखकर नौकरी की तलाश नहीं की। एक छोटी दुकान ली और वहीं सैलानियों की जरूरत की चीजों का कारोबार चलाया। कुछ वर्ष पश्चात् दूकान में आग लग जाने के कारण उसने बेचने की सामग्री एक बड़ी 'डूंगा' किश्ती में सजाई। जहाँ मन किया डूंगे को ले चला, और उसे इस कारोबार में अधिक लाभ हुआ। लेकिन बरसात

में डूँगे की घास की बनी हुई छत में से टप-टप पानी अन्दर आने लगा। इस संकट से मुक्ति पाने के लिए उसने घास को फेंक कर छत पर लकड़ी के तख्ते लगवाए। यूँ पहले-पहल हाऊस बोट का आविष्कार हुआ। तब से इसके निर्माण में काफी सुधार आए और दुमंजिले, सौ फीट तक लम्बे हाऊस बोट बनने लगे। हाऊस बोट बनाने का पहला कारखाना श्री नारायणदास ने ही चालू किया, जिस कारण लोगों ने उसका उपनाम 'नाव नारायण' रखा। इस समय श्रीनगर में लगभग दो हजार हाऊस बोट होंगे, बाहर से आए हुए लोग इनमें रहना बहुत पसन्द करते हैं।

देवदारु की लकड़ी के बने हाऊस बोट आम तौर से पचास-साठ फीट लम्बे और दस-पन्द्रह फीट चौड़े होते हैं और चार-पाँच कमरों में विभक्त होते हैं। अखरोट की लकड़ी के सामान, कालीन आदि से इन्हें सजाया जाता है। छत पर टीन की चादरें बिछाने का रिवाज चल पड़ा है, और ऊपर बरसाती 'डेक' बनाया जाता है। डेक पर बैठ धूप सेंकने और झीलों और पहाड़ों का दृश्य देखते ही दिन ढलता है। हाऊस बोट में रहने का आनन्द सभी को लेना चाहिए। माँझी को इशारा करना ही काफी है, यदि स्थान बदलने को आपका जी करता हो। बोरिये-बिस्तर समेत आप झील या नदी में तैरते हुए नजर आयेंगे। जरूरत की चीजों के लिए बाजार जाना नहीं पड़ता। सुबह सवेरे सब्जी 'डेम्ब' हाँजी नौका में लेकर आएगा और उसके पीछे-पीछे दूध वाला, फल बेचने वाला और डबल रोटी मक्खन वाला उपस्थित होंगे। अगर हस्तकौशल की उत्तम वस्तुओं को देखने का चाव हो, तो दोपहर समय जब खाना खाकर आप विश्राम कर रहे हों, फेरीवाला आपके पास आएगा। शाल दुशाले आदि सुन्दर चीजें वह आपको दिखाने आएगा। आप चाहें कुछ भी मोल न लें, वह सारा कमरा दस्तकारी के नमूनों से भर देगा। फिर भी अगर आपकी आँखें नहीं ललचाएँ, वह मुस्कराता हुआ आपसे विदा लेगा। जहाँ भी आप जायँ, जिन्दगी की जरूरतें आपको उपलब्ध होंगी। दो दिन डल गेट के पास गुजार कर मुगलों के बागों की सैर कीजिए, जहाँ मन करे वहाँ घूमें लेकिन हाऊस बोट छोड़ने की जरूरत नहीं। पानी में तैरते समय इसकी गति महसूस नहीं होती। किराये पर लेने से पहले हाऊस बोट को स्वयं देख लीजिए, कि वह आपकी जरूरत के अनुकूल है कि नहीं। केवल नाम के चक्कर में स्वीकृति न दीजिए। नाम उनके आकर्षक हैं, जैसे—लालारुख, गुलो-बुलबुल, आईरिस, पैरट, शीला, मेफ्लावर, नेपचून, दिलबहार, नरगिस आदि।

मौसम

मई से लेकर सितम्बर तक मौसम सुहावना रहता है। मानसबल, पहलगाँव, टंगमर्ग स्थान स्वास्थ्य के लिए अच्छे हैं, टंगमर्ग, कुकरनाग आदि स्थान लोगों को बहुत प्रिय हैं। मेरे विचार में पतझड़ का मौसम अत्यन्त सुखदायक है, हालांकि सर्दी पड़ती है। इस मौसम में फूल-फल बहुतायत से मिलते हैं, और श्रीनगर में प्रदर्शिनी

लगती है। झीलों की सैर करने के लिए मई, जून, सितम्बर और अक्तूबर के महीने अच्छे हैं। जून और जुलाई में तापमान बढ़ता है और १०० डिग्री फारनहीट तक जाता है। यह समय पहलगाँव, गुलमर्ग आदि पहाड़ी स्थानों में रहने के लिए उपयुक्त है।

कुछ बातें

मोटरों में जाने वाले सैलानियों को ध्यान रखना चाहिए कि कच्ची सड़कों पर बीस मील प्रति घण्टा की रफ़्तार से अधिक न जायें। बारिश होने से इन सड़कों पर फिसलने अथवा स्किटिंग का खतरा रहता है। शिकारियों के लिए जरूरी है कि अपनी बन्दूकों की लाईसेन्स साथ लेते आएँ। पीने के लिए झेलम नदी या डल झील के पानी का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उसे उबाल कर ही पीना चाहिए। पर्वतीय झरनों और झीलों की बात और है, उनका पानी स्वच्छ होता है, क्योंकि वे आबादी से दूर हैं।

हाऊस बोट में रहते या सामान खरीदते समय डाईरेक्टर टूरइज्म, श्रीनगर से प्राप्त 'ब्लैक लिस्ट' को देखें, ताकि धोखेबाजों से बचें। बिना लाईसेन्स के हाऊस बोट में कभी न रहें। किराया तय करते समय हाऊस बोट के मालिक से बात पक्की कर लें। हो सके तो उससे लिखकर लें कि वह कौन सी सुविधाएँ देगा। भुगतान करते समय रसीद अवश्य लें और रुपया मालिक को ही दें। शिकायत डाईरेक्टर टूरइज्म को तुरन्त लिखें। वह भी हाऊस बोट का चुनाव करने में आपकी सहायता करेगा। नाविक और रसोईये के नीरोग होने का हाऊस बोट के मालिक से डाक्टर का प्रमाण-पत्र माँगिये।

सैलानी अपने साथ 'वाटर प्रूफ' बिस्तरबन्द अवश्य ले जायें क्योंकि पहाड़ी इलाकों में अक्सर छींटे पड़ते हैं। हाऊस बोट या तम्बू में सोने के लिए मच्छरदानी ले जाना जरूरी है। गर्म कपड़े, और कम्बल भी साथ रखें। पर्वतारोहन करने के लिए मेखों वाली चप्पल और नोकदार छड़ी साथ लेना आवश्यक है।

तम्बू जीवन व्यतीत करने के लिए तैयारी करनी पड़ती है। धूप और वर्षा का असर तम्बू में सबसे ज्यादा मालूम पड़ता है। यह जरूरी है कि तम्बू को मजबूती से खड़ा करें और वर्षा पानी को रोकने के लिए चारों ओर से नाली खोदें और पानी के निकास का प्रबन्ध करें। अन्य काम की बातें परिशिष्ट में दी गई हैं।

प्रवेश परमिट

कश्मीर जाने के लिए परमिट लेना पड़ता है। भारतीय नागरिक हर प्रान्तीय सरकार के होम सेक्रेट्री या भारत सरकार के रक्षा-मन्त्रालय (दिल्ली) या जिला मजिस्ट्रेटों या पुलिस कमिश्नर (कलकत्ता) से परमिट प्राप्त कर सकते हैं।

विदेशी सैलानी अपने परमिट भारत सरकार के रक्षा-मन्त्रालय (दिल्ली) या रीजनल टूरिस्ट आफिसर (बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और नई दिल्ली) से प्राप्त कर सकते हैं।

परिशिष्ट

१

इतिहास का विहंगम दृश्य

अशोक	ईसा से २५० वर्ष पूर्व	अनिश्चित
कनिष्क	,, ,, १०० ,, ,,	,,
मिहिरगुल	५०० ई०	,,
प्रवरसेन	६०० ई०	,,
ललितादित्य	६९९—७३६ ई०	
अवन्तीवर्मन्	८५५—८८३ ई०	सोमनन्द (शिवदृष्टि) उत्पालदेव (प्रतिभिज्ञ), रत्नाकर (हर-विजय), भट्ट-कल्लट(स्पन्दसर्वस्व)
क्षेम गुप्त	९५०—९५८ ई०	
दिद्दा रानी	९८०—१००३ ई०	अभिनवगुप्त (तन्त्रलोक, तन्त्रसार)
कलश	१०६३—१०८९ ई०	सोमदेव (कथासरित-सागर)
हर्ष	१०८९—११०१ ई०	
उच्छल	११०१—११११ ई०	ममट (काव्यप्रकाश)
जयसिंह	११२८—११५४ ई०	कल्हण (राजतरंगिनी)
कोटा रानी	१३३८—१३३९ ई०	
अलाउद्दीन सुलतान	१३४२—१३५४ ई०	ललेश्वरी (लल-वाक्यणी)
कुतुबउद्दीन सुलतान	१३७३—१३८९ ई०	'शेख नुरुद्दीन' (नुंद ऋषि)
सिकन्दर 'बुतशिकन'	१३८९—१४१३ ई०	
जैनुलाबदीन 'बडशाह'	१४२०—१४७० ई०	मुल्ला अहमद, जोनराज (राज-तरंगिनी द्वितीय)
यूसुफ शाह चक	१५७९—१५८६ ई०	हब्बाखातून
अकबर	१५८६—१६०५ ई०	
जहाँगीर	१६०५—१६२७ ई०	साहिबकौल (कृष्ण अवतार)
शाहजहाँ	१६२८—१६५७ ई०	रूप भवानी

औरंगजेब	१६५८—१७०७ ई०	ग़नी (दीवाने ग़नी)
अहमदशाह दुर्रानी	१७५२—१७७२ ई०	मुल्ला-अल-मुहम्मद तौफीक (शाह्नाम-ए-कश्मीर)
तैमूरशाह	१७७२—१७९३ ई०	
रणजीतसिंह	१८१९—१८३९ ई०	परमानन्द (सुदामा-चरित्)
गुलाबसिंह	१८४६—१८५७ ई०	जम्मू कश्मीर रियासत की इसी ने नींव डाली।
प्रतापसिंह	१८८५—१९२५ ई०	कृष्णदास, रसुलमीर
हरिसिंह	१९२५—१९४७ ई०	गुलाम अहमद महजूर, अब्दुल अहमद आजाद, मास्टर जिन्दा कौल आदि।

कश्मीर के दर्शनीय स्थानों तथा पर्वत-शिखरों की ऊँचाई

१.	अमरनाथ	१२,७२९ फीट
२.	बानिहाल पास	८,९८५ ,,
३.	गंगाबल	११,७१४ ,,
४.	गुलमर्ग	८,७०० ,,
५.	हरमुख	१६,८७२ ,,
६.	जम्मू	१,००० ,,
७.	खिलन मर्ग	९,५०० ,,
८.	किश्तवार	३,००० ,,
९.	कोलाहाई	१५,००० ,,
१०.	कौसरनाग	१२,००० ,,
११.	लेह (लद्दाख)	११,३०० ,,
१२.	गोडविन आस्टिन (के २)	२८,२०० ,,
१३.	नांगापर्वत	२६,६९६ ,,
१४.	पहलगाँव	७,००० ,,
१५.	शेषनाग	११,७३० ,,
१६.	सोनामर्ग	८.७५० ,,
१७.	श्रीनगर	५,२१४ ,,
१८.	त्रटाकूटी	१५,५२४ ,,
१९.	त्रागबल	१२,००० ,,
२०.	वेरीनाग	६,१०० ,,

३

जलवायु

तापमान—

जाड़ों में—१५ से ६० डिग्री फ०
गर्मियों में—३५ से ९५ ,, ,,

श्रीनगर का तापमान—

	औसत	नितान्त छाया में
१ जनवरी से १५ फरवरी	३५	१५—४५
१५ फरवरी से १५ मार्च	४०	२०—५०
१५ मार्च से १५ अप्रैल	४८	३०—६५
१५ अप्रैल से १५ मई	५५	३५—८०
१५ मई से १५ जून	६५	४५—८५
१५ जून से १५ जुलाई	७५	५०—९५
१५ जुलाई से १५ अगस्त	८०	५५—९०
१५ अगस्त से १५ सितम्बर	७०	४५—८५
१५ सितम्बर से १५ अक्टूबर	६०	४५—७०
१५ अक्टूबर से १५ नवम्बर	५०	३५—६०
१५ नवम्बर से १५ दिसम्बर	४५	२५—५०

वर्षा की मात्रा—

	श्रीनगर	गुलमर्ग	
जनवरी	२·७६ इंच	—	इंच
फरवरी	२·७३ इंच	—	
मार्च	३·६३ इंच	—	
अप्रैल	३·७९ इंच	—	
मई	२·२७ इंच	—	
जून	१·४३ इंच	३·४५	इंच
जुलाई	२·३२ इंच	३·९०	इंच
अगस्त	२·३२ इंच	४·७३	इंच
सितम्बर	१·६० इंच	२·७७	इंच

अक्टूबर	१·०० इंच	—
नवम्बर	०·४३ इंच	—
दिसम्बर	१·४४ इंच	—
वार्षिक	२५·७३ इंच	—

कपड़ों की आवश्यकता—

वसन्त	—	ऊनी कपड़े तथा ओवरकोट
ग्रीष्म	—	हल्के ऊनी कपड़े तथा ठण्डे कपड़े
पतझड़	—	हल्के ऊनी कपड़े तथा ओवरकोट
शरद्	—	काफी गर्म कपड़े

रात को सोने के लिए, गर्मियों को छोड़ (जून से सितम्बर) हर मौसम में रजाई तथा कम्बल की आवश्यकता है। विशेषतः उन सैलानियों के लिए जो गुलमर्ग, पहलगाँव आदि ऊँचे स्थानों में रहने के इच्छुक हों।

कश्मीर के फल

कश्मीर को आर्थिक व्यवस्था में फलों के व्यापार को एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा मिला है। प्रतिवर्ष कश्मीर से लाखों रुपयों के फल भारतवर्ष के कोने-कोने में भेजे जाते हैं, और इसके द्वार हजारों आदमियों को जीविका प्राप्त होती है।

अनुमान किया गया है कि रियासत-भर में ३६,००० एकड़ भूमि पर फलों की खेती होती है। यूँ तो कश्मीर में सेब, अखरोट, बादाम और दूसरे फलों के नए पेड़ पहले भी प्रतिवर्ष वसन्त-काल में लगाए जाते थे। पाकिस्तानी आक्रमण की वजह से इस काम में कुछ बाधा पड़ गई थी। अब फिर से काम शुरू है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि भारतवर्ष में कश्मीरी फलों की माँग बढ़ने लगी है। मुख्य फलों और उनके पकने के समय की सूची यह है—

गिलास, स्टावरी, तूत	मई
खोबानी, हरे बादाम	जून
खोबानी, नाशपाती, आड़ू, प्लम, कच्चे सेब, हरे बादाम	जुलाई
नाशपाती, आड़ू, सेब, अँगूर, अनार, हरे अखरोट और सूखे बादाम	अगस्त
नाशपाती, सेब, अँगूर, अनार	सितम्बर
सेब और नाशपाती	नवम्बर

सब्जियाँ

नीचे लिखी हुई सब्जियाँ तो मई से नवम्बर तक हर समय मिलती हैं—

हाथीचक, बैंगन, गोभी, प्याज, चुकन्दर, शलगम, बाजी, करम साग, ओस्लाहाक, गाजर, पालक, टमाटर, खरबूज, तरबूजे, बीन, भिंडी, मूली, सेलरी, मटर, आलू, मिर्च, खेत चीनी, पुदीना, कद्दू, कमल-ककड़ी, सिंघारा, मेथी आदि।

सब्जियों के बीज मोल लेने के लिए

१. गवर्नमैण्ट माडल फार्म, शालामार बाग।
२. प्रकाश सीड फार्म, होटल रोड, श्रीनगर।
३. डल-व्यू सीड फार्म, बोलीवार्ड रोड।

फूल

कश्मीर तो फूलों का घर है। सर्दियों के चार महीने छोड़, सारी घाटी फूलों से आच्छादित रहती है। यहाँ कौन-कौन से फूल मिलते हैं, उनकी गणना करना सम्भव नहीं। परन्तु मैं तो इतना कह सकता हूँ कि मैं ने किसी ऐसे पर्वतीय कुसुम का नाम नहीं सुना है, जो कश्मीर घाटी में न उगता हो। मौसम के बदलने के साथ साथ नए-नए फूल खिल उठते हैं। वसन्त काल में नर्गिस खिल उठती है तो गर्मियों में नहीं मिलती। पतझड़ में गेंदे और गुलाबों की विशेष किस्में खिलती हैं, जो वसन्त में नहीं मिलतीं। ऋतुओं के बदलने के साथ-साथ फूल की किस्में भी बदलती रहती हैं।

५

पठानकोट से श्रीनगर का रास्ता

पठानकोट	० मील		श्रीनगर जाने के लिए बस और हवाई अड्डा । कश्मीर विजिटर्स ब्यूरो का दफ्तर, और आई० ए० सी० का दफ्तर स्टेशन के बिलकुल पास है।
लखनपुर	१४ मील		यहाँ परमिट दिखाना पड़ता है ।
साँबा	४१ मील		
जम्मू	६४ मील	१,००० फीट (ऊँचाई)	कश्मीर की शीतकालीन राजधानी । डाक-तार घर, होटल, डाक बंगला, आई० ए० सी० का दफ्तर, विजिटर्स ब्यूरो, प्राचीन रघुनाथ मन्दिर ।
नगरोठा	७१½ मील	१,१६५ फीट	छोटा गाँव, बाजार ।
झज्जर	८४½ मील	१,६३० फीट	डाक-घर, रेस्ट-हाऊस ।
टीकरी	९१½ मील	२,४५५ फीट	
उधमपुर	१०४½ मील	२,३४८ फीट	बड़ा कस्बा, व्यापार केन्द्र, डाक-तार घर, डाक बंगला, रेस्ट हाऊस, होटल ।
द्रामथल	११७½ मील	३,५०० फीट	डाक घर।
कुद	१२६ मील	५,७०० फीट	डाक बंगला, डाक घर, रेस्ट-हाऊस, होटल, पहाड़ों का सुन्दर दृश्य ।
बटोट	१४१½ मील	५,११६ फीट	डाक बंगला, डाक घर, तार घर, होटल, अस्पताल, सुरम्य दृष्य ।
रामबन	१५८½ मील	२,२५० फीट	डाक बंगला, डाक-तार घर, होटल, आदि ।
रामसू	१७२ मील	३,७९९ फीट	बाजार

बानिहाल	१८२ ३/४ मील	५,३३० फीट	डाक बंगला, रेस्ट हाऊस, डाक घर, बाजार। (यहाँ से आगे सड़क ८,१०० फीट लम्बी और ७,२०० फीट की ऊँचाई पर स्थित जवाहर टनल के बीच से होकर जाती है, जो बानिहाल से ७ मील की दूरी पर है। पहले रास्ता बानिहाल से २१ मील दूर ६४० फीट लम्बी और ८९८५ फीट की ऊँचाई पर स्थित टनल से जाता था। लेकिन जवाहर टनल के खुल जाने से रास्ते में १९ मील की बचत हो गई है और रास्ता सर्दियों में भी खुला रहता है।)
अपर मुंडा	२११ मील	७,२२४ फीट	डाक बंगला। अपर और लोअर मुंडा के बीच अब नई सड़क बानिहाल कोर्ट रोड से मिलती है। यहाँ से कश्मीर घाटी की पहली झाँकी मिलती है।
काजी गुंड	२२१ मील	५,६६७ फीट	डाक बंगला, डाक-तार घर, फलों का व्यापार केन्द्र।
खन्नाबल	२३४ मील	५,२३६ फीट	डाक बंगला, डाक-तार घर।
अवन्तीपुर	२४९ मील	५,२२५ फीट	डाक-तार घर,पुराने स्मृति-चिन्ह।
पाम्पुर	२५९ मील	५,३२५ फीट	प्रसिद्ध केसर के खेत।
श्रीनगर	२६७ मील	५,२१४ फीट	लक्ष्य